ज्ञानांकुशम्

लेखक

परम पूज्य आचार्य श्री योगीन्द्रदेव जी

हिन्दी अनुवादक

परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज

वाचनाप्रमुख

पूज्य आर्यिका श्री सुविधिमती माताजी

एवं

पूज्य आर्यिका श्री सुयोगमती माताजी

सम्पादक

पण्डितप्रवर श्री पूर्णचन्द्र जी जैन सुमन

दुर्ग (छत्तीसगढ़)

एवं

पण्डितप्रवर श्री ऋषभचन्द जी जैन

नयापारा (राजिम) छत्तीसगढ़

लेखक की लेखनी से

यह आचार्य श्री योगीन्द्रदेव विरचित लघुकाय ग्रन्थ है। यद्यपि इस कृति में अनुष्टुप छन्द में रची हुई मात्र तियालीस कारिकाएँ हैं तथा एक अन्य छन्द भी है , तथापि यह कृति अपने अन्तस् में द्वादशांग के बहुत से अर्थों को धारण करने वाली होने से महान है। ध्यान इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। मात्र पन्द्रह दिनों में मैंने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पूर्ण किया है।

ध्यान क्या है ?

ध्यान अन्तर्क्रान्ति है। ध्यान मन को प्रक्षालित करने का एकमेव साधन है। मनरूपी बे-लगाम के घोड़े को वश में करने के लिए ध्यान ही लगाम है। सम्पूर्ण द्वंद्व भाव से अतीत होकर मन को एकाग्र करने का नाम ही ध्यान है।

ध्यान की प्रशंसा करते हुए स्वयं ग्रन्थकार लिखते हैं -

नास्ति ध्यानसमो बन्धुर्नास्ति ध्यानसमो गुरुः।
नास्ति ध्यानसमं मित्रं, नास्ति ध्यानसमं तपः।।२५।।

अर्थात् - ध्यान के समान बन्धु नहीं है। ध्यान के समान गुरु नहीं है। ध्यान के समान मित्र नहीं है और ध्यान के समान तप नहीं है।

भारतीय दर्शनों में ध्यान को प्रचुर मात्रा में स्थान मिला है। ध्यान जैनदर्शन का तो प्राणतत्त्व ही है। ध्यान के बल से आत्मा अपने ऊपर लगी समस्त कर्मकालिमा को धो देता है। **ध्यानेन शोभते योगी** आदि सुभाषित वाक्यों के द्वारा प्राचीन काल में आचार्यों ने ध्यान की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ध्यान को समस्त तपों में प्रधान तप बताते हैं। वे लिखते हैं -

ध्यानमेव तपोयोगाः, शेषाः परिकराः मताः।
ध्यानाभ्यासा ततो यत्नः, शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः।।

(आदिपुराण - २१/७)

अर्थात् - ध्यान तपों में सर्वश्रेष्ठ है, शेष तप उसके परिकर के सदृश हैं। अतएव मुमुक्षु जीवों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक निरन्तर ध्यान का अभ्यास किया जाना चाहिये।

वर्तमान युग बड़ा आपाधापी का युग है। भौतिक विषयसामग्री में उलझ जाने के कारण मन बहुत अशान्त हो गया है। मनुष्य के जीवन के शब्दकोश से शान्ति नामक शब्द ही नदारद हो गया है। उसकी बेचैनी का कहीं से कहीं तक ओर और छोर नहीं है।

कैसे मिलेगी शान्ति ?

शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र साधन ध्यानयोग ही है। ध्यान के द्वारा मन से कषायों का पलायन हो जाता है। ध्यान मन में संतोष को भर देता है। आत्माभिमुख होकर दुःख के कारणों का विलय करने में ध्यान सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, यही कारण है कि ध्यानयोग को सीखने के लिए विदेशी लोग भारत में आ रहे हैं।

भारत में ध्यान के विषय में बहुत खोज हुई है, किन्तु ध्यान के मर्म की जो चर्चा जैनागम में की गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैनागम में ध्यान के विषय की प्ररूपणा करने वाले अनेकानेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उन ग्रन्थों के अध्ययन और मनन से ध्यान में प्रवेश प्राप्त करने की विधि ज्ञात होती है व सम्यक् दिग्बोध की प्राप्ति होती है।

दीक्षागुरु परम पूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज की तथा पथप्रदर्शक, विद्यागुरु, परम पूज्य आचार्यकल्प श्री हेमसागर जी महाराज की परम पावन ध्यानछवि को स्मरण करके टीका करने का कार्य प्रारम्भ किया था, अतः यह कार्य उन्हीं के आशीर्वाद का फल है। आर्यिका सुविधिमती तथा आर्यिका सुयोगमती माताजी के अपूर्व सहयोग से यह कृति प्रकाशन के योग्य बन सकी, अतः उन्हें श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो यही आशीर्वाद।

ग्रन्थ के समस्त सहयोगियों को आशीर्वाद।

आओ, ध्यानगंगा में अवगाहन करें।

मुनि सुविधिसागर

प्रकाशकीय

एक नीतिकार ने लिखा है –

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चन्दनेषु यथा मतम् ।
मणिषु वैडूर्य यथा ज्ञेयं तथा ध्यान व्रतादिषु।।

अर्थात्- जिसप्रकार मूल्यवान रत्नों में वज्र, चन्दनों में गोशीर्ष तथा मणियों में वैडूर्यमणि को सर्वोत्तम माना जाता है, उसीप्रकार सम्पूर्ण व्रतों में ध्यान सर्वोत्तम है, ऐसा जानना चाहिये।

आचार्यों ने आर्षग्रन्थों में **ध्यानं प्राणाः मुनीश्वराणाम्** ध्यान ही मुनीश्वरों का प्राण है, ऐसा लिखकर ध्यान के महत्त्व को लोक में विश्रुत किया है।

रयणसार ग्रन्थ में आचार्य श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं –

झाणाज्झयणं मुक्खं जदि धम्मे तं विणा तहा सो वि।

अर्थात्- ध्यान और अध्ययन यतिधर्म के मुख्य अंग हैं। इन दोनों के अभाव में मुनित्व स्थिर नहीं रह सकता ।

इससे सिद्ध होता है कि ध्यान साधुता का अलंकार है। ध्यान आत्मा के साक्षात्कार का पावन पथ है। ध्यान के बिना आत्मा आत्म-संवेदन कर ही नहीं सकता। आत्मा की प्रगति ध्यान के द्वारा ही संभव है। ध्यान की उपस्थिति में आत्मा कषायकल्मषों व विषयवासनाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है। ध्यान आत्मद्वार पर सजग दरबान की तरह खड़ा है। उसके होते हुए आत्मा में कर्म एवं कषायों का प्रवेश नहीं हो सकता।

ध्यान के इन्हीं गुणों को अवलोकन करके आचार्यों ने ध्यान को परम संवर कहा है।

जैन धर्म आत्मप्रधान धर्म है। आत्मा के निजस्वरूप को प्राप्त करने के इच्छुक मुमुक्षु जीव इसी धर्म की शरण में आते हैं। अतः आत्म-स्वरूप प्रदर्शक तथा आत्मतत्त्वनिदर्शक ध्यान का वर्णन करने वाले ग्रन्थ जैनागम में पाये जाते हैं।

ज्ञानार्णव ध्यान के विषय पर लिखी हुई कालजयी बृहद् जैन कृति है। आचार्य श्री शुभचन्द्र महाराज ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

योगसार और **योगप्रदीप** जैसे अनेकों मूल्यवान ग्रन्थ ध्यान की गहराइयों को सुस्पष्ट करते हैं। **ध्यानसूत्राणि** ग्रन्थ के माध्यम से परमोपकारी आचार्य श्री माघनन्दि देव ने ध्यान का प्रायोगिक अभ्यास करवाया है।

इस कृति का नाम **ज्ञानांकुश स्तोत्रम्** है। जैसे मदमस्त गजराज को वश करने के लिए लोहांकुश चाहिये, उसीप्रकार सद्गुणों के उपवन को उजाड़ने वाले मनरूपी मत्त हाथी को वश करने के लिए ज्ञानांकुश चाहिये।

इस कृति का प्रणयन आत्मतत्त्ववेत्ता **योगीन्द्रदेवाचार्य** ने किया है। इस ग्रन्थ में मात्र चवालीस कारिकाएँ हैं। ग्रन्थ अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। संस्कृत-भाषा का सामान्य ज्ञाता भी इसे आसानी से समझ सकता है। **यथा-**

देहं चैत्यालयं प्राहुर्देही चैत्यं तथोच्यते।
तद् भक्तिश्चैत्यभक्तिश्च, प्रशस्या भववर्जिता।।२२।।

अर्थात्- देह चैत्यालय है और देही चैत्य है। उसकी भक्ति चैत्यभक्ति है। वह भक्ति ही प्रशंसनीय एवं भवपार कराने वाली है।

ऐसे सरल ग्रन्थ का मुनिश्री के पावन करकमलों से अनुवाद हो जाने के कारण विषय और भी सरस एवं सुन्दर हो गया है। मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि ऐसे विषय को प्रकाशित करने के लिए मुझे अपना सहयोग करने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ को पढ़कर एक भी आत्मा आत्मतत्त्व को उपलब्ध हो जाय, तो हमारा श्रम सार्थक हो जायेगा।

परम पूज्य आर्यिका श्री सुविधिमती माताजी तथा परम पूज्य आर्यिका श्री सुयोगमती माताजी ने इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि को तैयार करके प्रकाशन के योग्य बनाया है। उनके इस श्रुतप्रेम की मैं अनुमोदना करता हूँ तथा मैं उन्हें सादर वन्दामि भी करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अनेकों महानुभावों ने अतिशय उत्साह पूर्वक सहयोग प्रदान किया है, उन सभी के प्रति मैं **अनेकान्त श्रुत प्रकाशिनी संस्था** की ओर से आभार व्यक्त करता हूँ।

आशा है, आप इस ग्रन्थ का पूर्ण लाभ उठायेंगे।

आइये, ध्यानयोग में आप सादर आमन्त्रित हैं।

— भरतकुमार पापड़ीवाल

ग्रंथ परिचय

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव का यह लघुकाय ग्रंथ है। ग्रंथकर्त्ता के विषय में निर्णयपूर्वक कह पाना असम्भव है कि वे कब हुए ? अथवा उनकी और कौन-कौन सी कृतियाँ हैं ? परन्तु यह निश्चित है कि सरलशैली, विषय के प्रति प्रामाणिकता, जैनाार्जन ग्रथों का अध्ययन आदि के कारण यह ग्रंथ लघुकाय होते हुए भी भव्यजीवों का महान उपकार करने वाला है। ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय **ध्यान** है।

ध्यान की परिभाषा करते हुए स्वयं ग्रंथकार लिखते हैं -

ध्यानं स्थिरमनश्चैव :- मन का स्थिर होना ध्यान है।

मन अत्यन्त चंचल है। एकाएक उसकी गति पर रोक लगाना संभव नहीं है। ध्यान की प्राप्ति के लिए क्या करें ? ग्रंथकर्त्ता ने ध्यान के हेतु बताये हैं, जिनके सहयोग से मन की चंचलता का निरोध सम्भव है।यथा–

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रंथ्यं समभावना।

जयः परीषहाणां च, पञ्चैते ध्यानहेतवः ।।४२।।

अर्थ : वैराग्य, निर्ग्रंथता, तत्त्वविज्ञान, समभावना और परीषहजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन भी मनोसंयम का प्रधान हेतु है। अनुप्रेक्षा बारह हैं। ग्रंथकर्ता ने अन्यत्व, अशुचित्व एवं एकत्व इन तीन अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। ध्यान के चार भेद हैं, आर्त्त, रौद्र, धर्म,शुक्ल। प्रथम दो ध्यान अशुभ होने से हेय हैं तथा बाद के दो ध्यान मोक्ष के कारण होने स (**परे मोक्षहेतू**) वे उपादेय हैं। इसलिए ग्रंथकार लिखते हैं :-

आर्त्तरौद्रं परित्यज्य, धर्मशुक्लं समाचरेत् ।। ४१।।

धर्मध्यान के ४ भेद हैं। उनका प्रतिपादन करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है :–

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।

रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम् ।।१४।।

अर्थ : मन्त्रवाक्यों का चिन्तन करना पदस्थध्यान है। स्वात्मचिन्तन पिण्डस्थध्यान है। सर्वचिद्रूप का ध्यान रूपस्थध्यान है तथा निरंजन सिद्धों का ध्यान रूपातीतध्यान है।

संक्षिप्तरूप से इतना ही लिखना पर्याप्त है कि यह ग्रंथ **ज्ञानार्णव -प्रवेशिका** के समान अथवा योगशास्त्ररूपी ताले को उद्घाटित करने के लिए कुंजी के समान है।

आकर्षक व्यक्तित्व के धनी, बहु-आयामी विषयों के ज्ञाता, लेखनी के जादूगर, पूज्यपाद गुरुदेव ने इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करके ग्रंथ के महत्त्व को और अधिक विस्तृत किया है। अन्य आगम के प्रमाणों से जहाँ आपने अपनी टीका को प्रामाणिक बनाया है, वहीं अनेक शंकाओं को उपस्थित करके तथा उनका समाधान करके ग्रंथ को भव्यजनोपयोगी बनाया है।

आचार्यपरम्परा पर आपकी कितनी भक्ति है ? आप आचार्यों की वाणी का एक अक्षर भी असत्य नहीं मानते। आप लिखते हैं –

आचार्य तीर्थंकर वाणी के प्रसारक, अनेकान्त प्रेमी तथा पापभीरु होते हैं। कहीं जिनवाणी की प्ररूपणा में स्खलन न हो जाय, इसके लिए वे सतत सजग रहते हैं। अतः उनके वचनों को तीर्थंकर की वाणी के समान सत्यतत्त्वप्ररूपक मानना चाहिये। (श्लोक ३३ का भावार्थ)

जब आप किसी आचार्य के मन्तव्य को समझाते हैं, तो ऐसा ही, जैसे मानों स्वयं वे आचार्य देव समझा रहे हो। आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव पुण्य को स्वर्णशृंखला कहते हैं, तो आचार्य श्री गुणभद्र पुण्य करने की प्रेरणा देते हैं। क्या यह परस्पर विरुद्ध उपदेश नहीं है ? आपने समझाया–

समस्त उपदेश प्रासंगिक होते हैं। अतः स्वरूप के अध्येता को तत्त्वमर्यादा जान लेनी चाहिये।

आप ही बताइए कि किसी नेत्ररोगी के नेत्रों का ऑपरेशन किया गया, डॉक्टर ने उसे हरी पट्टी लगाने की सलाह दी।टांके टूटने पर जब डॉक्टर ने हरी पट्टी उतारने के लिए कहा और रोगी इस बात पर अड जाये कि आपने ही हरी पट्टी लगाने को कहा था, अब आप अपने वचनों से क्यों पलट रहे हो ? तो क्या यह उचित है?

जब कोई बालक पहली बार विद्यालय में जाता है, तो गुरुजी

जैसे अ-अनार का, इ-इमली का पढ़ाते हैं। जब वह बड़ा हो जाय, तब भी मेरे गुरुजी ने मुझे अ-अनार का ऐसा पढ़ाया था, यह तर्क देकर वैसा ही बोलता रहे, तो क्या कोई उसे बुद्धिमान कहेगा ?

किसी रोगी को कुशल वैद्य सर्व प्रथम साधारण भोजन करने का उपदेश देता है, ताकि रोगी की पाचन शक्ति ठीक हो जाय, फिर पूर्ण स्वस्थ होने के लिए शक्तिवर्धक भोजन देता है, उसीप्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाले भव्य जीव को परम कृपालु आचार्य परमेष्ठी अशुभ से निवृत्त होकर सर्व प्रथम शुभ में प्रवेश करने का उपदेश देते हैं। जब भव्य जीव अपनी आत्मशक्ति का विकास कर लेता है, तब उसे शुभ से भी विरत कराकर स्व-स्वभाव में अवस्थित रहने का उपदेश देते हैं।

अतः पुण्यं कुरुष्व जैसे उपदेश प्रारंभिक शिष्य का उद्धार करते हैं, उसीप्रकार पुण्य का हेयस्वरूप वाणी का विन्यास साधकशिष्य के विकास में कारण है।

(श्लोक ३ का भावार्थ)

सम्यग्ज्ञान को सूर्य की उपमा दी गई है। उपमा क्वचित् साम्यता विलोक कर किया गया आरोप है। क्या साम्य है दोनो में ? इस छोटी बात को बताने के लिए ज्ञान और सूर्य में १० समानतायें प्रकट की है।

(श्लोक ३१ का भावार्थ)

इससे आपके गहन चिन्तन का बोध होता है।

आप का आध्यात्मिक ज्ञान तो गहन है ही, आयुर्वेदादि लौकिक अध्ययन में भी आपका कोई सानी नहीं। चिन्ता से व्याधि तथा बल के नाश का क्या सम्बन्ध है ? इस बात को (श्लोक ३४) जिसतरह आपने अभिव्यक्त किया है, वह आश्चर्योत्पादक है।

इसतरह आपके द्वारा की गई यह टीका सर्वांगीन दृष्टि से परिपूर्ण टीका है।

मुनिश्री का ज्ञान-ध्यान एवं तप का ऐश्वर्य सतत वृध्दिंगत हों, यही मंगल कामना।

आर्यिका द्वय

सुविधि-सुयोगमती

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ क्र.
१	मंगलाचरण	१
२	आत्मभावना का फल	४
३	संसार और मोक्ष का कारण	७
४	विभावों को क्षय करने की प्रेरणा	१०
५	ध्यान का लक्षण व फल	१३
६	संकल्प और उसका फल	१५
७	निराश्रय ध्यान	१८
८	आत्मा व ज्ञान में एकत्व	२०
९	ब्रह्मविहार का फल	२३
१०	क्लेश का मूल कारण	२६
११	सिद्धों का ध्यान	२९
१२	आत्मभावना	३१
१३	शुद्धात्मा के ध्यान का फल	३४
१४	धर्मध्यान के भेद	३६
१५	योगी का कर्त्तव्य	४१
१६	आत्माचरण	४४
१७	आत्मा का कर्त्तव्य	४७
१८	पुण्य की प्रेरणा	४९
१९	आत्मा का स्वरूप	५२
२०	रत्नत्रय की भावना	५५
२१	पाँच ज्ञान	५८
२२	चैत्यभक्ति	६१
२३	सम्यग्ज्ञान से आत्मशुद्धि	६३
२४	शास्त्र-गुरु और मोक्ष का लक्षण	६६

२५	ध्यान का महत्त्व	६९
२६	परमात्मा के भेद	७२
२७	ध्यान का फल	७४
२८	योगियों का तत्त्व	७७
२९	योगियों की स्थिति	७९
३०	आत्मचिन्तन का फल	८२
३१	प्रभात और अन्धकार	८४
३२	ध्यान की सफलता	८६
३३	ब्रह्मनिष्ठकों की दशा	८८
३४	चिन्ता के दुष्परिणाम	९१
३५	अन्यत्वभावना	९५
३६	अशुचित्वभावना	९८
३७	एकत्वभावना	१०१
३८	निश्चयध्यान	१०३
३९	परमतत्त्व का लक्षण	१०५
४०	सच्चा योगी	१०७
४१	ध्यान के भेद	१०९
४२	ध्यान के हेतु	११२
४३	ध्यान के कार्य	११६
४४	ग्रंथाध्ययन का फल	१२०
	श्लोकानुक्रमणिका	
	सहायक ग्रंथ	
	हमारे पूर्व प्रकाशन	

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव विरचित

ज्ञानांकुशम्

मंगलाचरण

शुद्धात्मानं परं ज्ञात्वा, ज्ञानरूपं निरञ्जनम्।
वक्ष्ये संक्षेपतो योगं, संसारोच्छेद कारणम्॥१॥

अन्वयार्थ :

(**परम्**) श्रेष्ठ (**ज्ञानरूपम्**) ज्ञानरूप (**निरञ्जनम्**) निरंजन (**शुद्धात्मानम्**) शुद्धात्मा को (**ज्ञात्वा**) जानकर (**संसार**) संसार का (**उच्छेद**) उच्छेद करने में (**कारणम्**) कारणभूत (**योगम्**) योग को मैं (**संक्षेपतः**) संक्षेप में (**वक्ष्ये**) कहूँगा।

अर्थ : श्रेष्ठ, ज्ञानरूप, निरंजन शुद्धात्मा को जानकर मैं संसार का उच्छेद करने में कारणभूत ऐसे योग को संक्षेप में कहूँगा।

भावार्थ : आर्षपरंपरा के अनुसार ग्रंथकार को सर्वप्रथम छह अधिकारों का व्याख्यान करके फिर ग्रंथ की रचना करनी चाहिये। यथा-

मंगल कारण हेदू, सत्थस्सपमाण णाम कत्तारा ।
पढम चिय कहिदव्वा, एसा आइरिय परिभासा ॥

(तिलोयपण्णत्ती - १/७)

अर्थात् : मंगलाचरण, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता इन छह अधिकारों की व्याख्या करके ही ग्रंथकार शास्त्र का व्याख्यान करते हैं।

इष्ट देवता को नमस्कार करना मंगलाचरण है। अध्यात्ममार्ग स्वात्माश्रित होता है, अतः शुद्धात्मा का स्मरण ही यहाँ मंगलाचरण है।

मंगलाचरण करने का प्रयोजन बताते हुए आचार्य लिखते हैं -

नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम् ।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः ।।

अर्थात् : नास्तिकता का त्याग, शिष्ट पुरुषों के आचरण का पालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्न की रहितता, इन चार लाभों के लिए शास्त्र के प्रारंभ में श्री जिनेन्द्र की स्तुति की जाती है।

आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने भी लिखा है -

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः, प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं, शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः।।

(आप्तपरीक्षा- २)

अर्थात् : **परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सम्यक् प्राप्ति और सम्यग्ज्ञान दोनों प्राप्त होते हैं। अतएव शास्त्र के प्रारम्भ में मुनिपुङ्गवों, सूत्रकारादिकों ने परमेष्ठी का गुणस्तवन किया है।**

जिसके लिए ग्रंथ बनाया जाता है वह निमित्त कहलाता है। इस ग्रंथ में शुद्धात्माभिलाषी भव्य जीव निमित्त है।

शास्त्र बनाने का कारण बताना ही प्रयोजन है। इस ग्रंथ में भव्य जीव योगशास्त्र को जानकर शुद्धात्मपद का अधिकारी होवें यह प्रयोजन है।

श्लोकसंख्या का कथन करना परिमाण नामक अधिकार है। इस ग्रंथ में कुल चवालीस श्लोक हैं। इस ग्रंथ का नाम ज्ञानांकुश है तथा इसके कर्ता आचार्य श्री योगीन्द्रदेव हैं।

इस श्लोक में ग्रंथकर्ता ने शुद्धात्मा के लिए तीन विशेषण दिये हैं।

१. उत्कृष्ट : श्रेष्ठ, परम, उत्तम, प्रमुख और सर्वोच्च आदि इसी के नामान्तर हैं। आत्मा सर्व तत्त्वों में प्रधानभूत तत्त्व है। यही एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें चेतना पायी जाती है। अतः सम्पूर्ण तत्त्वों में आत्मा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है।

२. ज्ञानरूप : ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द भगवान लिखते हैं -

आदा णाण पमाणं। (प्रवचनसार - २३)

अर्थात् : **आत्मा ज्ञान प्रमाण है।**

जितना ज्ञान है, उतना ही आत्मा है। आत्मा ज्ञान से कम अथवा ज्ञान से अधिक नहीं है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द भगवन्त लिखते हैं -

हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणाओ, णाणेण विणा कहं णादि।।

(प्रवचनसार - २५)

अर्थात् : यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन हो, तो वह ज्ञान अचेतन हुआ कुछ नहीं जानेगा और यदि आत्मा ज्ञान से अधिक हो, तो यह आत्मा ज्ञान के बिना कैसे जानेगा ?

अतः ग्रंथकार ने आत्मा को ज्ञान रूप कहा है।

६. निरंजन : निरंजन शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा- निष्कलंक, निर्दोष, मिथ्यात्व से रहित, सीधा-सादा आदि। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये आत्मा पर लगे हुए कलंक हैं। ये कलंक शुद्धात्मा को नहीं होते। अतः वे निरंजन हैं।क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष सम्पूर्ण संसारी जीवों में पाये जाते हैं। ये दोष शुद्धात्मा में नहीं पाये जाते हैं। अतः शुद्धात्मा निरंजन हैं।

शुद्धात्म जीव स्वभाव में रमणशील रहते हैं । वे मिथ्यात्व से रहित होते हैं। इसीलिए वे निरंजन कहलाते हैं।

मंगलाचरण के पश्चात् ग्रंथकार प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं संक्षेप पद्धति को स्वीकृत करके योगशास्त्र को कहूँगा।

मन, वचन, काय की एकाग्रता को धारण करके ध्यान के द्वारा शुद्धात्मा से जुड़ जाना ही योग है, क्योंकि **युज्यत इति योगः** यह योग शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में लवलीन होकर परविषयक सम्पूर्ण विकल्पों से मुक्त हो जाना ही योग है। इसी योग को आगम की भाषा में ध्यान और अध्यात्म की भाषा में शुद्धोपयोग कहा जाता है। यही योग मोक्षसुख का प्रदाता होता है।

कैसा है यह शास्त्र ?

यह शास्त्र द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार इन पाँच संसारों का समूलोच्छेद करने वाला है।

आत्मभावना का फल

कायप्रमाणमात्मानं, व्योमरूपं निरञ्जनम्।
चैतन्यं भावयेन्नित्यं, ज्ञानं प्राप्नोति निश्चयम्॥२॥

अन्वयार्थ :

(कायप्रमाणम्) शरीरप्रमाण **(व्योमरूपम्)** व्योमरूप या अमूर्तिक **(निरञ्जनम्)** निरंजन **(चैतन्यम्)** चैतन्य **(आत्मानम्)** आत्मा की **(नित्यम्)** नित्य **(भावयेत्)** भावना करनी चाहिये **(निश्चयम्)** इससे निश्चय ही **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(प्राप्नोति)** प्राप्त होता है ।

अर्थ : कायप्रमाण आत्मा को जो कि व्योमरूप तथा निरंजनरूप है, उस चैतन्य आत्मा की भावना को जो सदैव करता है, वह निश्चित ही सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है।

भावार्थ : इस कारिका में परम चैतन्यतत्त्व की भावना करने का फल बताते हुए उस भावना को सदैव भाने का सदुपदेश दिया है।

१. कायप्रमाण : जैनागम में आत्मतत्त्व के आकार का वर्णन करते समय तीन प्रकार से कथन किया गया है- शरीरप्रमाण, लोकाकाशप्रमाण और किंचित् न्यून। समस्त संसारी जीवों का आकार स्व-शरीरप्रमाण होता है।

आचार्य श्री ब्रह्मदत्त ने लिखा है –

यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापिव्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहार- विस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थ प्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः।

(बृहद् द्रव्यसंग्रह- २)

अर्थात् : यद्यपि जीव निश्चय से स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों का धारक है, तथापि शरीर नामकर्म के उदय

से उत्पन्न होने वाले संकोच तथा विस्तार के आधीन होने से घटादि भाजनों में स्थित दीपक की तरह स्वदेह–परिमाण है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का कथन है –

जह पउमराय रयणं खित्तं खीरं पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि ।।

(पंचास्तिकाय - ३३)

अर्थात् : जिसप्रकार पद्मराग नामक महामणि को दूध में डाला जाय, तो वह समस्त दूध को अपनी प्रभा से प्रकाशित करता है । उसीप्रकार संसारी जीव देह में रहता हुआ स्वदेहप्रमाण प्रकाशित होता है।

आचार्य श्री पूज्यपाद (देवनन्दि) ने भी लिखा है कि **तनुमात्रो ।** (इष्टोपदेश - २१) आत्मा अपने शरीरप्रमाण आकार वाला होता है।

केवली समुद्‌घात के समय आत्मा लोकाकाशप्रमाण होता है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। जब केवली भगवान के आयुकर्म की स्थिति अल्प एवं शेष अघाति कर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब अन्य कर्मों की स्थिति को आयुकर्म के समान करने हेतु वे समुद्‌घात करते हैं। इस समुद्‌घात को ही केवली समुद्‌घात कहते हैं। इस समुद्‌घात में केवली के आत्मप्रदेश दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण, प्रतर, कपाट , दण्ड तथा स्वदेहप्रमाण होते हैं। जब समुद्‌घात के चतुर्थ समय में लोक-पूरण अवस्था होती है, तब उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाशप्रमाण प्रसरण को प्राप्त होते हैं। उसी विवक्षा से आत्मा लोकाकाश प्रमाण है।

सिद्ध जीव पूर्व शरीर से किंचित् न्यून आकार वाले होते हैं।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिध्दान्तचक्रवर्ती ने लिखा है -

किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा। **(द्रव्यसंग्रह - १४)**

अर्थात् : सिद्ध जीव अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होते हैं ।

इसे सुस्पष्ट करते हुए आचार्य श्री ब्रह्मदत्त ने लिखा है -

तत् किञ्चिदूनत्वं शरीरोपाङ्गजनित नासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेवक्षणे सयोगिचरमसमये त्रिंशत् प्रकृत्युदय विच्छेदमध्ये शरीरोपाङ्गनामकर्म विच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे

जातमिति ज्ञातव्यम्।

(बृहद्द्रव्यसंग्रह - १४)

अर्थात् : वह जो किंचित् न्यूनता है, सो शरीरांगोपांग कर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों के अपूर्ण होने पर, जिस क्षण में सयोगी के अन्त समय में तीस कर्म प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ था, उनमें अंगोपांग कर्म का भी विच्छेद हो गया। अतः उसीसमय (किंचित् ऊनत्व) हुआ है ऐसा जानना चाहिये।

इस श्लोक में शरीरप्रमाणत्व को ध्यान में रखकर **कायप्रमाणम्** यह विशेषण दिया है।

२. ***व्योमरूप*** : व्योम का अर्थ आकाश है। लोकपूरण नामक केवली समुद्घात की अपेक्षा से **व्योमरूप** यह विशेषण दिया गया है।

आकाश के समान शुद्धजीव भी अमूर्तिक होते हैं। इसलिए शुद्धजीव **व्योमरूप** हैं।

३. ***निरंजन*** : मंगलाचरण काव्य में इसका विस्तार किया गया है।

आत्मा की भावना का फल बताते हुए आचार्य श्री योगीन्द्रदेव लिखते हैं –

भव तणु भोय विरत्त मणु जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ।।

(परमात्मप्रकाश - १/३२)

अर्थात् : जो जीव संसार, शरीर और भोगों में विरक्तमना होकर, निज शुद्धात्मा का चिन्तवन करता है, उसकी संसाररूपी मोटी बेल विनाश को प्राप्त हो जाती है।

इस सृष्टि में एक नियम है कि जीव जैसी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है। जो आत्मा की भावना करता है वह एकदिन अवश्य ही आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कर ही लेता है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान ही है। इसलिए ग्रंथकार लिखते हैं कि जो आत्मभावना करता है, वह अवश्य ही ज्ञान को (केवलज्ञान को) प्राप्त कर लेता है।

आत्मकल्याण की इच्छा रखने वाले भव्यजीव को आत्मभावना अवश्य ही करनी चाहिये।

संसार और मोक्ष का कारण

शुभाशुभामात्मकं कर्म, देहिनां भवधारिणाम्।
भावे शुभाशुभे नष्टे, देहो नश्यति देहिनाम् ॥३॥

अन्वयार्थ :

(शुभ) शुभ **(अशुभात्मकम्)** अशुभात्मक **(कर्म)** कर्म **(भवधारिणाम्)** संसारी **(देहिनाम्)** जीवों के होते हैं। **(शुभ)** शुभ **(अशुभे)** अशुभ **(भावे)** भाव **(नष्टे)** नष्ट होने पर **(देहिनाम्)** जीवों का **(देहः)** देह **(नश्यति)** नष्ट होता है।

अर्थ : शुभाशुभात्मक कर्म शरीरधारक जीव संचय करते हैं। जो जीव शुभाशुभ भावों को नष्ट करते हैं, वे संसारी प्राणी शरीर का नाश करते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ : आचार्य श्री उमास्वामी लिखते हैं -

शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य।

(तत्त्वार्थसूत्र ६/३)

अर्थात् : शुभयोग पुण्यास्रव और अशुभयोग पापास्रव का कारण है।

शंका : शुभयोग क्या है ?

समाधान : आचार्य श्री अकलंकदेव लिखते हैं -

अहिंसास्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः।
सत्यहितमितभाषणादिः शुभो वाग्योगः।
अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादि शुभोमनोयोगः ।

(राजवार्तिक - ६/३/२)

अर्थात् : अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यपालन आदि शुभ काययोग हैं।

सत्य, हित-मित वचन बोलना आदि शुभ वचनयोग हैं।

अर्हन्त-भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग हैं।

शंका : अशुभ योग क्या है ?

समाधान : आचार्य श्री अकलंकदेव का कथन है -

प्राणातिपातादत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः कायदोगः।
अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योगः।
वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः।

(राजवार्तिक - ६/३/१)

अर्थात् : हिंसा, दूसरे की बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना (चोरी), मैथुनप्रयोग आदि अशुभ काययोग हैं।

असत्यभाषण, कठोर, मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचनयोग हैं।

हिंसक परिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग हैं।

ये दोनों योग भी क्रमशः पुण्यास्रव और पापास्रव के प्रत्यय हैं।

पुण्य से मनुष्यपर्याय, उच्चकुल, दीर्घायु, सातिशय संपत्ति, आरोग्यसम्पन्नता तथा अभ्युदय की प्राप्ति होती है। पाप इससे विपरीत दशा को उत्पन्न करता है।

ये दोनों भी बन्ध के प्रत्यय होने से संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। अतः मोक्षेच्छु जीव के लिए दोनों समान रूप से हेय हैं।

आचार्य श्री योगीन्दुदेव ने बहुत स्पष्ट लिखा है -

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ।।

(योगसार - ७१)

अर्थात् : जो पाप है, उसको जो जीव पाप जानता है, तो ऐसा सब कोई जानते हैं। परन्तु जो पुण्य को भी पाप कहता है, ऐसा पण्डित तो कोई विरला ही मनुष्य होता है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव का मन्तव्य है -

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।

(समयसार - १४६)

अर्थात् : जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है, इसीप्रकार किया हुआ शुभ तथा अशुभ कर्म भी जीव को बांधता है।

कर्मास्रव के जितने भी कारण हैं, वे सब मुमुक्षुओं के लिए त्याज्य हैं। अतः शुभाशुभ कर्मों का नाश करने के लिए अपने टंकोत्किर्ण ज्ञायक शुद्धस्वभाव का आश्रय लेना चाहिये।

शंका : आचार्य श्री गुणभद्र जैसे समस्त महान आचार्यों ने **पुण्यं कुरुष्व** (आत्मानुशासन-३१) **अर्थात् -- पुण्य करो** ऐसा उपदेश दिया है, जबकि आप यहाँ उसे हेय बता रहे हैं। यह उचित कैसे हो सकता है ?

समाधान : समस्त उपदेश प्रासंगिक होते हैं। अतः वस्तुस्वरूप के अध्येता को तत्त्वमर्यादा जान लेनी चाहिये।

आप ही बताइए कि किसी नेत्ररोगी के नेत्रों का ऑपरेशन किया गया। डॉक्टर ने उसे हरी पट्टी लगाने की सलाह दी। टांके टूटने पर डॉक्टर ने हरी पट्टी उतारने के लिए कहा और रोगी इस बात पर अड़ जाये कि आपने ही हरी पट्टी लगाने को कहा था, अब आप अपने वचनों से क्यों पलट रहे हो ? तो क्या यह उचित है ?

जब कोई बालक पहली बार विद्यालय में जाता है, तो गुरुजी उसे अ-अनार का, इ -इमली का पढ़ाते हैं। जब वह बड़ा हो जाये, तब भी मेरे गुरुजी ने मुझे अ-अनार का पढ़ाया था यह तर्क दे कर, वैसा ही बोलता रहे, तो क्या कोई उसे बुद्धिमान कहेगा ?

किसी रोगी को कुशल वैद्य सर्वप्रथम साधारण भोजन करने का उपदेश देता है ताकि रोगी की पाचन शक्ति ठीक हो जाये। फिर पूर्ण स्वस्थ होने के लिए शक्तिवर्धक भोजन देता है। उसीप्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाले भव्य जीव को परम कृपालु आचार्य परमेष्ठी अशुभ से निर्वृत्त होकर सर्वप्रथम शुभ में प्रवेश करने का उपदेश देते हैं।

अतः **पुण्यं कुरुष्व** जैसे उपदेश प्रारंभिक शिष्य का उद्धार करते हैं, उसीप्रकार पुण्य का हेयत्व रूप वाणी का विन्यास साधक शिष्य के विकास में कारण है। आत्मा का कल्याण चाहने वाले भव्य जीवों को शुभोपयोग के माध्यम से शुद्धोपयोग को प्राप्त करना चाहिये।

विभावों को क्षय करने की प्रेरणा

भावक्षये समुत्पन्ने, कर्म नश्यति निश्चयात्।

तस्माद्भावक्षयं कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४ ॥

अन्वयार्थ :

(भाव) भावों का **(क्षये)** क्षय **(समुत्पन्ने)** होने पर **(निश्चयात्)** निश्चय से **(कर्म)** कर्म **(नश्यति)** नष्ट होता है **(तस्मात्)** इसलिए **(भावक्षयम्)** भावक्षय **(कृत्वा)** करके **(किञ्चित्)** कुछ **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करें।

अर्थ : शुभाशुभ भावों का क्षय होने पर निश्चय से कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनका क्षय करके कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये।

भावार्थ : शुभ और अशुभ भाव आत्मा के वैभाविक भाव हैं। जब आत्मा में विभाव भाव उत्पन्न होते हैं, तब उनका निमित्त प्राप्त करके आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन होता है। यह परिस्पन्दन ही योग है। यह योग कर्मास्रव का हेतु बन जाता है। फलतः प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है।

शुभभाव रागात्मक परिणति है व अशुभ द्वेषात्मक। ये राग और द्वेष कषायात्मक होते हैं। अतः उनसे स्थिति व अनुभाग बन्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि शुभाशुभभाव संसार के ही कारण हैं।

शंका : इस वक्तव्य से तो यह ध्वनित होता है कि धर्मानुराग पूर्वक की गई सम्पूर्ण क्रियाएँ यथा-जिनभक्त्यादि, सब संसार की ही कारण हैं ?

समाधानः नहीं, ऐसा नहीं मानना चाहिये। नयविवक्षा को जाने बिना जो कथन किये जाते हैं, वे ऐकान्तिक कथन असत्य की कोटि में आते हैं।

जिनागम में अनेकान्त को प्राण माना गया है। अतः जिनागम की अपेक्षापद्धति को समझकर यथार्थ श्रद्धान करना चाहिये।

कोई जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर अपनी आत्मा की आराधना करने के लिए प्रवृत्त होता हुआ भी अनादि संस्कारवशात्

उसमें स्थिर नहीं हो पाता, क्योंकि अनादिकाल से इस जीव ने कभी आत्मा को नहीं देखा, उसे सुना नहीं और साधक को कभी उसका अनुभव भी नहीं हुआ। आजतक वह काम, भोग और बन्ध की कथाओं में ही रमण करता रहा। यही कारण है कि उसके लिए आत्मोपलब्धि अतिशय कठिन हो गई है।

यही बात आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव को इष्ट है। यथा-

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।

(समयसार- ४)

अर्थात् : सब ही लोकों के काम और भोगविषयक बंध की कथा तो सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई है, इसलिए सुलभ है। किन्तु परभावों से भिन्न आत्मा के एकत्व का लाभ उसने कभी न सुना, न परिचय में आया और न अनुभव में आया, इसलिए सुलभ नहीं है ।

विषय-कषायों से बचने के लिए तथा आत्मस्वरूप मे स्थिरता प्राप्त करने के लिए कुछ बाह्य निमित्तों की आवश्यकता होती है। जिनभक्त्यादि क्रियाएँ बाह्य निमित्त हैं। अतः वे संसार की कारण नही हैं अपितु मोक्षमार्ग की साधकसामग्री हैं।

हाँ, यदि निजात्मस्वभाव का लक्ष्य ही न हो तथा द्रव्यक्रियाएँ इन्द्रियसुख और निदान के लक्ष्य से की जाती हैं, तो अवश्य संसार का कारण बनती हैं।

यही आशय आगमरसिक श्री रत्नकीर्ति देव ने आराधनासार में व्यक्त किया है। (गाथा २० की टीका)

आचार्य श्री ब्रह्मदत्त लिखते हैं -

यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषविशेषो देशान्तरस्थित सीतादि स्त्रीसमीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषाः वीतरागपरमानन्देकरूप मोक्षलक्ष्मी सुखसुधारसपिपासिताः सन्तः संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषयकषायोत्पन्न दुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठि

संबन्धिगुणस्मरण दानपूजादिकं कुर्युरिति।

(परमात्मप्रकाश - २/६१)

अर्थात् : जैसे परदेश में स्थित कोई रामदेवादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्री के पास से आये हुए किसी मनुष्य से बातें करता है, उसका सम्मान करता है और दान करता है। ये सब अपनी प्रिया के कारण ही है। कुछ उसके प्रसाद के कारण नहीं है। उसीतरह से भरत, सगर, राम, पाण्डवादि महान पुरुष वीतराग परमानन्दरूप मोक्षलक्ष्मी के सुखामृत-रस से प्यासे हुए संसार की स्थिति के छेदने के लिए विषय-कषायों से उत्पन्न हुए आर्त्त-रौद्र इन खोटे ध्यानों के नाश के लिए श्री पंचपरमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं और दान पूजादिक करते हैं।

संक्षेप से इतना ही समझना पर्याप्त है कि धर्मानुरागपूर्वक की गई सम्पूर्ण क्रियाएँ यदि आत्मा को लक्ष्य रख कर की जाती हैं, तो वे सार्थक हैं। यदि उन्हीं क्रियाओं को सुखानुबन्ध के लिए किया जाता है तो वे संसार का ही कारण बनती हैं।

यदि आत्मकल्याण का इच्छुक भव्य जीव शुभक्रियाओं को सर्वथा बन्ध का कारण मानकर छोड़ देवें और शुद्धात्मा में स्थिर रहने की उसकी पात्रता नहीं हो तो वह **इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः** की स्थिति में पहुँच जायेगा। ऐसी मूढ़ता न हो, इसीलिए आचार्यों ने चरणानुयोग के ग्रंथों की रचना की है।

जो आचरण के पथ पर लगे हुए नहीं हैं, उनको आचार्यों ने आचरण को स्वीकार करने का उपदेश दिया है। जिन्होंने अणुव्रतरूप आचरण को स्वीकार किया है, उनके लिए आचार्यों ने महाव्रतरूप आचरण पालन करने का उपदेश दिया है। जो महाव्रतों का निर्दोष परिपालन करते हैं, उन सकलसंयमी मुनियों के लिए श्रुतधर आचार्यों ने शुभाशुभ भावों को त्याग कर आत्मा में स्थिर होने का उपदेश दिया है। यह उपदेश के क्रम की समीचीनता है। शुद्धत्व का ध्येय बनाकर अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार शुभ क्रियाओं का आचरण करना चाहिये।

साधना के चरम समय में शुभ और अशुभ रूप दोनों ही भाव त्याज्य हैं यही इस कारिका का सार है।

ध्यान का लक्षण व फल

ध्यानं स्थिरमनश्चैव, फलं स्यात्कर्मनिर्जरा।
एवंविध विचारेण, योगं निश्चयमाचरेत् ॥५॥

अन्वयार्थ :
(स्थिर) स्थिर **(मनः)** मन **(एव)** ही **(ध्यानम्)** ध्यान है **(च)** और **(कर्म-निर्जरा)** कर्मनिर्जरा उसका **(फलम्)** फल **(स्यात्)** है। **(एवंविध)** इस प्रकार का **(विचारेण)** विचार करके **(निश्चयम्)** निश्चय से **(योगम्)** ध्यान का **(आचरेत्)** आचरण करें।

अर्थ : मन स्थिर होना ही ध्यान है व कर्म की निर्जरा होना उसका फल है। ऐसा विचार करके निश्चयपूर्वक ध्यान का आचरण करना चाहिये।

भावार्थ : आभ्यन्तर तपों में अन्तिम तप ध्यान है। ध्यान की परिभाषा करते हुए आचार्य श्री वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है -

ध्यानं तपः परं चित्तैकार्थलीनप्रवर्तनम् ।
कीर्त्यन्तेऽन्तर्मुहूर्त्त विस्थानं स्वर्गमोक्षसाधनम् ॥

(आचारसार - ६/१००)

अर्थात् : अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवस्थान है जिसका ऐसा चित्त का एकार्थ में लीन होकर प्रवर्तन करना, स्वर्ग और मोक्ष का साधन ध्यान नामक सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है।

मन अत्यन्त चंचल है। वह संकल्प और विकल्पों के जाल में उलझकर चैतन्यामृत के पान से जीव को वंचित कर देता है। उस मन को एकाग्र करना ध्यान है। ध्यान एक ऐसा वायुयान है, जो साधक को आनन्द और अक्षय सौभाग्य के साम्राज्य में उड़ा कर ले जाता है। ध्यान ही मोक्ष की प्राप्ति का राजमार्ग है। केवलज्ञान के उपवन को महकाने के लिए ध्यान खाद के समान है। कर्मपंक का प्रक्षालन करने के लिए ध्यान नीर के समान है। ध्यान अपवर्ग का राजमार्ग है।

आध्यात्मिक शक्ति के विकास के लिए ध्यान सुयोग्य मित्र है।

ध्यान ही सच्ची माता है, जो चैतन्य गुण को परिपुष्ट करती है। ध्यान के द्वारा जीव अपनी आत्मशक्ति को भौतिक भावनाओं से स्वतंत्र कर लेते हैं। ध्यान चेतना की ऐसी अन्तर्यात्रा है, जो परिधि से केन्द्र की ओर प्रतिक्रमण है। ध्यान ही स्वर्गापवर्ग की वांछित संपत्ति देने वाला कल्पतरु है। ध्यान मोक्षफल का प्रदाता है।

ध्यान के महाफल का निरूपण करते हुए आचार्य श्री शुभचन्द्र ने लिखा है -

ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम् ।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनः ।।

(ज्ञानार्णव - २३/७)

अर्थात् : मोक्ष का मुख्य कारण ध्यान ही है। वही ध्यान पापसमूह रूपी विस्तृत वन को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है ।

आचार्य श्री शिवकोटि ने ध्यान का फल विस्तार से बताया है। वे लिखते हैं – जैसे गर्भगृह वायु से रक्षा करता है, वैसे ही ध्यान कषाय रूपी वायु के लिए गर्भगृह है। जैसे धूप से बचने के लिए छाया है, वैसे ही कषायरूपी घाम से बचने के लिए ध्यान छाया के समान है। जैसे दाह को नष्ट करने के लिए सरोवर उत्तम है, वैसे ही कषायरूपी दाह को नष्ट करने के लिए ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीत के बचाव के लिए आग है, वैसे कषायरूपी शीत के बचाव के लिए ध्यान आग के समान है। जैसे वैद्य पुरुष के रोगों की चिकित्सा में कुशल होता है, वैसे ही ध्यान कषाय रूपी रोग की चिकित्सा करने में कुशल वैद्य है। जैसे अन्न भूख को शान्त करता है, वैसे ही विषयों की भूख दूर करने के लिए ध्यान अन्न के समान है तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है, वैसे ही विषयरूपी प्यास को दूर करने के लिए ध्यान पानी के समान है। अपने सहज स्वभाव का अनुभव ध्यान के द्वारा किया जा सकता है। ध्यान के द्वारा सच्चा संयम प्राप्त होता है। संयम के द्वारा ही जीव समस्त कर्मों का विनाश करता है। अतः ग्रंथकार ने ध्यान का फल कर्मनिर्जरा बताया है। इस प्रकार सत्य स्थिति को जानकर प्रत्येक भव्य जीव को आत्मकल्याण कर लेना चाहिये ।

संकल्प और उसका फल

संकल्प एव जन्तूनां,कारणं बन्धमोक्षयोः।
वीतरागोऽपवर्गस्य,सरागो बन्धकारणम् ॥६॥

अन्वयार्थ :-

(संकल्पः) संकल्प **(एव)** ही **(जन्तूनाम्)** प्राणियों के **(बन्ध)** बन्ध और **(मोक्षयोः)** मोक्ष का **(कारणम्)** कारण है। **(वीतरागः)** वीतरागसंकल्प **(अपवर्गस्य)** मोक्ष का और **(सरागः)** सरागसंकल्प **(बन्ध)** बन्ध का **(कारणम्)** कारण है।

अर्थ :- संकल्प ही प्राणियों के बन्ध व मोक्ष का कारण है। इन दोनों में से वीतरागसंकल्प अपवर्ग का और सरागसंकल्प बन्ध का कारण है।

भावार्थ :- संकल्प शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री ब्रह्मदत्त लिखते हैं –

पुत्रकलत्रादौबहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना सङ्कल्पः।

(बृहद्द्रव्यसंग्रह - ४१)

अर्थात् : **पुत्र,कलत्र आदि बाह्य द्रव्य में यह मेरा है ऐसी कल्पना करना संकल्प है।**

अन्यत्र उन्होंने लिखा है –

बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः।

(परमात्मप्रकाश- १/१६)

अर्थात् :- **पुत्र, कलत्रादि चेतन और अचेतन बाह्यद्रव्यों में ये मेरे हैं ऐसा ममत्वपरिणाम संकल्प है।**

आचार्य श्री जयसेन लिखते हैं –

बहिर्द्रव्ये चेतनाचेतनमिश्रे ममेदमित्यादि परिणामः संकल्पः।

(पंचास्तिकाय-७)

अर्थात् :- चेतन, अचेतन और मिश्र द्रव्यों में ये मेरे हैं इत्यादि परिणाम संकल्प है।

मन प्रतिसमय संकल्प और विकल्पों के जाल बुना करता है। जिसप्रकार मकड़ी जाल बनाती है और स्वयं उसमें उलझ कर अपने प्राण गवाँ बैठती है, उसीप्रकार यह जीव राग और द्वेषरूपी विभावपरिणति के वशवर्ती होकर संकल्प और विकल्प का जाल बुनता है और उसमें फँस कर पतन के गर्त में अर्थात् नरक और निगोद में जाकर गिरता है। अशान्ति एवं अन्तर्बहिर्जल्परूप वृत्ति संकल्प के कारण ही जीव में उत्पन्न होती है। इस श्लोक में संकल्प का अर्थ चैतन्यानुविधायी परिणाम (उपयोग) है। इसके ग्रंथकार ने दो भेद किये हैं--

१. वीतरागसंकल्प :-- आर्षभाषा में इसे शुद्धोपयोग भी कहा जाता है। जब निजतत्त्व के आनन्दामृत का पान करने वाले मुनिराज अपने आत्म-परिणाम को राग और द्वेष से पूर्ण विविक्त कर लेते हैं, जब वे सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-हानि, , संयोग-वियोग, बन्धु-रिपु आदि अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समचित्तवान हो जाते हैं, संयम और तप जिनके शुभ आभूषण हैं, जो पदार्थ और सूत्र के अच्छे जानकार हैं, ऐसे मुनिराज उत्तम ध्यान में लीन होकर ध्यान-ध्येय के विकल्प से विहीन हो जाते हैं, उस परिणति को वीतरागसंकल्प कहते हैं। इस वीतरागसंकल्प में कषाय और योग इन दोनों का सद्भाव नहीं होता। फलतः उससमय आस्रव एवं बन्ध नहीं हो सकता।

शुद्धोपयोगपरिणति का फल बताते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं –

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं।।

(प्रवचनसार - १३)

अर्थात् : शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख अतिशय, आत्मा से उत्पन्न, विषयों से रहित, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है।

शुद्धोपयोग निर्जरा का सर्वश्रेष्ठ कारण है। अतः ग्रंथकार ने इसे अपवर्ग का (मोक्ष का) कारण बताया है।

२. सरागसंकल्प : जब यह जीव वीतराग दशा से च्युत हो जाता

है, तब उसकी परिणति संक्लेश अथवा विशुध्द हो जाती है। असाता की बन्धयोग्य परिणति को संक्लेश और साता के बन्धयोग्य परिणामों को विशुध्दि कहते हैं।

असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम। का विसोही ? सादबंध जोग्गपरिणामो।

(धवला पुस्तक - ६, पृष्ठ -१)

संक्लेश परिणाम का अपर नाम अशुभोपयोग है। उससे विपरीत योग शुभ कहलाता है । दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव लिखते हैं –

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीणं कम्मक्खओ विहिओ।।

(समयसार – १५६)

अर्थात् : पण्डितजन निश्चयनय के विषय को छोड़ कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, क्योंकि परमार्थभुत आत्मस्वरूप का आश्रय करने वाले यतीश्वरों के ही कर्मों का नाश कहा गया है।

आचार्य श्री अमितगति लिखते हैं –

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम्।
विज्ञायेत्यशुभं निहन्तुमनसो ये पोषयन्ते तपः।।
जायन्ते शमसंयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेष किमत्रोच्यते ?

(तत्त्वभावना - १०)

अर्थात् : पूर्व में बांधा हुआ अशुभकर्म दुःख और शुभकर्म सुख उत्पन्न करता है। ऐसा जानकर जो इस अशुभ को नाश करने के भाव से तप करते हैं और समता तथा संयमरूप हो जाते हैं, ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं। परन्तु जो पुण्य और पाप इन दोनों ही प्रकार के कर्मों के नाश में तल्लीन हैं, उन योगियों की तो बात ही निराली है ।

अतः मुमुक्षुओं को सरागसंकल्प का परित्याग करके वीतराग संकल्प में मग्न रहने का प्रयत्न करना चाहिये ।

निराश्रय ध्यान

अभाव भावनं चैव,भावं कृत्वा निराश्रयम् ।
निश्चलं हि मनः कृत्वा,न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।३।।

अन्वयार्थ :

(अभाव) अभाव **(भावम्)** भावों की **(भावनम्)** भावना **(कृत्वा)** करके **(हि)** निश्चय से **(निराश्रयम)** निराश्रय होना चाहिये **(च-एव)** और **(मनः)** मन को **(निश्चलम्)** निश्चल **(कृत्वा)** करके **(किंचित्)** कुछ **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(चिन्तयेत्)** चिन्तें।

अर्थ : अभाव भावों की भावना करके निराश्रय होना चाहिये तथा मन को निश्चल करके कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये।

भावार्थ : ध्यानेच्छु जीव को ऐसा विचार करना चाहिये कि मुझ में निश्चय से विभाव भावों का अभाव है। विकारों का एक अंश भी मेरे स्वभाव में नहीं है। विभावों की उद्‌भूति परनिमित्त से होती है। वस्तुतः वह वस्तु का परसंयोगज भाव है, स्वभावभाव नहीं है। अतः ध्यानेच्छु निरन्तर ऐसा विचार करें कि-

१. मैं विभाव नहीं हूँ और विभाव मेरे नहीं हैं।
२. मैं विभावों का नहीं हूँ और विभाव मेरे नहीं हैं।
३. मैं विभावों का नहीं था और विभाव मेरे नहीं थे।
४. मैं विभावों का नहीं हो सकता और विभाव मेरे नहीं हो सकते।

मैं विभाव भावों से अत्यन्त पृथक् हूँ , ऐसी आत्मा की प्रतीति एवं प्रीति विषय-कषायों से आत्मा को वियुक्त कर देती है। वह वियुक्तता आत्मा को कर्मों से निर्लेप बना देती है। उससे वह जीव परमशुद्ध बन जाता है।

आचार्य श्री पूज्यपाद लिखते हैं -

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।।

(इष्टोपदेश - ३७/३८)

अर्थात् : जैसे-जैसे स्वानुभव में उत्तम तत्त्व अनुभव में आता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी रुचिकर प्रतीत नहीं होते।

जैसे-जैसे सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं लगते, वैसे-वैसे स्वात्मसंवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती है।

जब स्वभाव से रतिरूप परिणाम बनते हैं, तो तत्फलस्वरूप स्वाभाविक परिणति प्रकट होने लगती है। स्वात्मपरिणति में विभावों का क्या काम ? फलतः विभावों के मंडराते बादल छटते चले जाते हैं। जिसप्रकार बादलों के छट जाने पर बादलों की ओट में छिपे हुए सूर्य का प्रकाश एवं प्रताप प्रकट हो जाता है, उसीप्रकार विभावों का अभाव होते ही आत्मा का स्वभाव प्रकट हो जाता है।

स्वभाव आत्मा की सहज परिणति है। स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप स्व-चतुष्टय में स्व-चतुष्टय के द्वारा उत्पन्न होकर वह अपनी अवस्थिति वहीं पर रखती है। अतः विभावों का अभाव हो जाने पर आत्मा पर से निराश्रय हो जाता है। ऐसे आत्मा की इन्द्रियाँ और मन एकाग्र हो जाते हैं। इसके प्रसाद से चिन्तनरहित निर्मल आत्मस्थिति का जन्म होता है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती लिखते हैं -

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होई थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।

(द्रव्यसंग्रह - ५६)

अर्थात् : हे ज्ञानीजनो! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् काय के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो, जिससे कि तुम्हारी आत्मा अपनी आत्मा में तल्लीन होवें, क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होना ही परमध्यान है।

यही परमध्यान आत्मोत्थापक निमित्त है। अतः प्रत्येक भव्य को आत्मध्यान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मा व ज्ञान में एकत्व

आत्मा हि ज्ञानमित्युक्तं, ज्ञानात्मनौ विकल्पकम्
ज्ञानेन ज्ञानमालम्ब्य, योगिन्! कर्मक्षयं कुरु॥८॥

अन्वयार्थ :

(आत्मा) आत्मा **(हि)** निश्चय से **(ज्ञानम्)** ज्ञान है **(इति)** ऐसा **(उक्तम)** कहा गया है। **(ज्ञान)** ज्ञान और **(आत्मनौ)** आत्मा में भेद करना **(विकल्पकम)** व्यवहार है। **(योगिन्)** हे योगी! **(ज्ञानेन)** ज्ञान से **(ज्ञानम्)** ज्ञान का **(आलम्ब्य)** अवलम्बन करके **(कर्मक्षयम्)** कर्मक्षय **(कुरु)** करो।

अर्थ : आत्मा निश्चय से ज्ञान है, ऐसा कहा गया है। ज्ञान और आत्मा में भेद करना व्यवहार है। हे योगिन्! तुम ज्ञान से ज्ञान का अवलम्बन लेकर समस्त कर्मों का क्षय करो।

भावार्थ : जैनागम का दिनकर सदैव अनेकान्त की किरणों को प्रसारित करता आया है, जिससे भव्य जीवों को सत्यतत्त्वों को देखने का व जानने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस परम चक्षु से विहीन स्व-पर प्रणाशक जीव सदसद्विवेक से रहित होकर तत्त्वों का यदिच्छा प्ररूपण करते हैं। एकान्त मतावलम्बी जीव, गुण और गुणी को सर्वथा भेद या अभेदरूप में स्वीकार कर लेते हैं, जो वस्तुतत्त्व के अनुरूप नहीं है। जैनागम गुण और गुणी की कथंचित् भिन्नता एवं कथंचित् अभिन्नता स्वीकार करता है।

आचार्य श्री जयसेन जी का कथन है –

तदेव गुण गुणिनोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादि भेदेऽपि प्रदेशभेदाभाव पृथग्भूतत्त्वं भव्यते।

(पंचास्तिकाय-५०)

अर्थात् : उस गुण और गुणी में संज्ञा, लक्षण और प्रयोजनादिकृत भेद होने पर भी प्रदेशभेद के अभाव से वह अपृथक् है।

द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानने पर क्या दोष होता है ?

इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं –

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ।।

(पंचास्तिकाय - ४४)

अर्थात् : **यदि द्रव्य गुणों से सर्वथा भिन्न अथवा गुण द्रव्य से सर्वथा भिन्न हो तो एक द्रव्य के अनन्त द्रव्य हो जायेंगे अथवा द्रव्य का अभाव हो जायेगा।**

गुण और गुणी में कथंचित् भेद करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं -

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ।।

(पंचास्तिकाय - ४६)

अर्थात् : द्रव्य और गुणों में गुण-गुणी भेद होता हैं। वे कथनभेद, आकारभेद, गणनाभेद और आधारभेद से कथंचित् भिन्न हैं। वे कथंचित् अभिन्न भी हैं।

आत्मा गुणी एवं ज्ञान गुण है, अतः उन दोनों में कथंचित् भेदाभेदत्व है।

संज्ञाभेद : आत्मा व ज्ञान, इसतरह दोनों में संज्ञाभेद है।

लक्षणभेद : आत्मा का लक्षण चेतना व ज्ञान का लक्षण जानना है, यह दोनों में लक्षणभेद है।

संख्याभेद : आत्मा एक है। ज्ञान के पाँच भेद हैं। यह संख्याभेद है।

विषयभेद : आत्मा आधार है। ज्ञान आधेय है। यह विषयभेद है।

उपर्युक्त विधि से आत्मा और ज्ञान में भिन्नत्व होते हुए भी एक क्षेत्रावगाही होने से तथा दोनों में अविनाभावी सम्बन्ध होने से वे एक हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने समझाया है –

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदा दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।।

(पंचास्तिकाय- ४८)

अर्थात् : आत्मा और चैतन्य गुण में सर्वथा भेद हो, तो परस्पर ज्ञानी और ज्ञान में जड़त्वभाव उत्पन्न हो जाता है। यथार्थ में यह जिनेन्द्र भगवान का कथन है।

अतः ग्रंथकार ने ज्ञान को ही आत्मा कहा है। ज्ञान और आत्मा में जो भेद किया जाता है, वह प्राथमिक शिष्यों के सम्बोधनार्थ अर्थात् विस्ताररुचि वाले मन्द बुद्धिशाली शिष्यों को समझाने के लिए किया जाता है। ग्रंथकार का उपदेश है कि ज्ञान से ज्ञान का ही अवलम्बन लेना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि रागादि परभावों से हटकर मात्र ज्ञानानुभूति में रत रहना चाहिये।

ज्ञानानुभूति ही शुद्धात्मानुभूति है। ज्ञानानुभूति ही निश्चयरत्नत्रय है। उसके अतिरिक्त समस्त विकल्प स्वयं के स्वभावभूत न होने से असत्य हैं। ज्ञान स्व-समय होने से रम्य है। ज्ञान ही दर्शन है, ज्ञान ही सुख है, ज्ञान ही चारित्र है, ज्ञान ही वीर्य है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र लिखते हैं -

तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादि ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम् । रागादिपरिहरण स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।

(आत्मख्याति - १५५)

अर्थात् : उनमें जीवादि पदार्थों के यथार्थ श्रद्धानस्वभाव से ज्ञान का होना तो सम्यग्दर्शन है। जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्यागस्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इसकारण ज्ञान ही परमार्थरूप से मोक्ष का कारण है।

समस्त गुण ज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। ज्ञानानुभूति आत्मा की प्रगति का पथ है। यदि ज्ञान की आराधना की जाती है, तो सकल कर्म क्षणमात्र में झड़ जाते हैं।जो मुनि ज्ञान के द्वारा अपना अवलम्बन लेकर अपने लिए अपने में अपने को स्थिर करके निश्चयध्यान में रत हो जाता है, वे अन्तर्मुहूर्त मात्र में समस्त कर्मों का क्षय कर देते हैं।

ब्रह्मविहार का फल

गृहस्थो यदि वा लिङ्गी ब्रह्मचारी विशेषतः।
ध्यानं करोति शुध्दात्मा मुच्यते नात्र संशयः॥१॥

अन्वयार्थ :
(यदि) यदि **(गृहस्थः)** गृहस्थ **(वा)** अथवा **(लिङ्गी)** साधु जो **(विशेषतः)** विशेषतया **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी है वह **(ध्यानम्)** ध्यान **(करोति)** करता है तो **(शुद्धात्मा)** शुद्धात्मा बनता है, वह **(मुच्यते)** मुक्त होता है **(अत्र)** इसमें **(संशयः)** संशय **(न)** नहीं है।

अर्थ : गृही हो अथवा निर्ग्रन्थ हो, जो विशेषतः ब्रह्मचारी है अर्थात् आत्मरमण करने वाला है, वह ध्यान करता है तो शुद्धात्मा बन जाता है। उसके द्वारा कर्मों का समूलोच्छेद होता है, इसमें संशय नहीं है।

भावार्थ : ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए आचार्य भगवन्त श्री शिवार्य लिखते हैं –

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।।

(भगवती आराधना - ८७८)

अर्थात् : ब्रह्म शब्द को जीव कहा जाता है। उस ब्रह्म में ही चर्या ब्रह्मचर्य है। पराये शरीर सम्बन्धी व्यापार से विरत हुए मुनिराज अनन्त पर्यायात्मक जीव के स्वरूप का अवलोकन करते हुए उसी में रमण करते हैं, वह ब्रह्मचर्य है।

आचार्य श्री पद्मनन्दि ने भी लिखा है

आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परम् ,
स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः।
एवं सत्यबलः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते ,
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत् ।।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका - १२/२)

अर्थात् : ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मलज्ञानस्वरूप आत्मा है। आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्वमय हो चुका है, उसी के यह ब्रह्मचर्य होता है। ऐसा होने पर यदि इन्द्रियविजयी होकर वृद्धा आदि (युवती, बाला) स्त्रियों को क्रम से अपनी माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है, तो वह ब्रह्मचारी होता है।

ब्रह्म में जिसकी निष्ठा होती है, ऐसे जीव के लिए बाह्यलिंग विशेष महत्त्व नहीं रखते। अतः वह गृहस्थ हो या यति हो, वह समस्त कर्मों का उच्चाटन करके अवश्य ही सिद्धात्मा बन जाता है। इसमें संशय नहीं है।

शंका : क्या कोई गृहस्थ आत्मरमण कर सकता है ?

समाधान : नहीं, अपितु गृहस्थ आत्मश्रद्धा के माध्यम से अपनी आत्मशक्ति को विकसित करता है तथा मुनिपद को धारण करके आत्मरमण का पात्र बन जाता है।

गृहस्थ को आत्मध्यान की पात्रता का निषेध करते हुए आचार्य श्री जयसेन लिखते हैं –

विषयकषायोत्पन्नेनार्त्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामा-त्माश्रित निश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति।

(प्रवचनसार - तात्पर्यवृत्ति - २५४)

अर्थात् : विषयकषायों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले आर्त्त और रौद्रध्यान में परिणत गृहस्थजनों को आत्माश्रित निश्चयधर्म में अवकाश नहीं है।

आचार्य देवसेन भी इसी बात को स्वीकार करते हैं। यथा –

जो भणई को वि एवं, अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंबं, ण मुणइ सो आयमो जइणो।।

(भावसंग्रह - ३८२)

अर्थात् : यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालम्ब और शुद्धध्यान होता है, तो समझना चाहिये कि इसप्रकार

कहने वाला पुरुष मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता।

यदि गृहस्थ को आत्मरमण का पात्र मान लेंगे, तो आत्मरमण का फल जो कि सम्पूर्ण कर्मों का नाश होकर मोक्ष होना है उसे भी स्वीकार करना पड़ेगा। यह बात जैनागम को इष्ट नहीं है।

शंका : कारिका में गृहस्थ शब्द का प्रयोग है। ग्रंथकार का आशय यह है कि यदि गृहस्थ भी शुद्धात्मा का ध्यान करता है, तो वह सम्पूर्ण कर्मों का नाश करता है। क्या ऐसा लिखना उचित है ?

समाधान : आचार्य परमेष्ठी अन्यथावादी नहीं होते। अतः ग्रंथकार के आशय को समझ लेना आवश्यक है।

गृहस्थ राग के सद्भाव में शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ध्यान में परिणत हो जाता है। ऐसा आचार्य श्री जयसेन का मत है। यथा -

अर्हन्तादिक की भक्ति से सम्पन्न हुआ जीव कथंचित् शुद्ध सम्प्रयोग वाला होता हुआ भी राग का लव जीवित होने के कारण शुभोपयोग को न छोड़ता हुआ बहुत पुण्य को बांधता है, परन्तु वह वास्तव में सकल कर्मों का क्षय नहीं करता है।

यति आत्मध्यान के बल से तत्काल ही सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। गृहस्थ के लिए इस तरह सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर पाना संभव नहीं है। वह परंपरा से कर्मों का नाश करता है। उसका कर्मनाश होना निश्चित है, अतः द्रव्यनिक्षेप से श्लोक मे उसका उल्लेख है। अर्थ करते समय प्रत्येक भव्यजीव का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्वयार्थ के साथ-साथ आगमार्थ का भी विचार करें।

इसी आशय की गाथा प्रवचनसार ग्रंथ में पायी जाती है। यथा -

जो एवं जाणित्ता,झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोणागारो,खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।।

(प्रवचनसार - १९४)

अर्थात् : जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा को ध्याता है, वह साकार हो या अनाकार मोहदुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

क्लेश का मूल कारण

पदार्था अन्यथा लोके, शास्त्रं स्यादिदमन्यथा।
अन्यथा मोक्षमार्गश्च, लोकःक्लिश्यति चान्यथा ॥१०॥

अन्वयार्थ :
(लोके) लोक में **(पदार्थाः)** पदार्थ **(अन्यथा)** अन्यथा हैं । **(इदम्)** यह **(शास्त्रम्)** शास्त्र **(अन्यथा)** अन्यथा **(स्यात्)** है **(च)** और **(मोक्षमार्गः)** मोक्षमार्ग **(अन्यथा)** अन्यथा है **(च)** और **(लोकः)** लोक **(अन्यथा)** अन्यथा **(क्लिश्यति)** क्लेश उठा रहा है।

अर्थ : लोक में पदार्थ अन्यथा हैं । यह शास्त्र अन्यथा है। मोक्षमार्ग अन्यथा है और यह जीव व्यर्थ ही क्लेश उठा रहा है।

भावार्थ : अर्थोऽभिधेयः पदस्यार्थः पदार्थः । अर्थ यानि अभिधेय । पद का जो अर्थ है वह पदार्थ है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। इन सम्यक् पदार्थों को जाने बिना नाना मतावलम्बी नानाप्रकार के पदार्थस्वरूप को स्वीकार करते हैं।

वे मूढ़ वस्तु के सत्स्वभाव को जान ही नहीं पाते। अनेकान्त के राजपथ से अत्यन्त दूर एकान्त के कुपथ पर गमन करते हुए वे क्लेश के भाजन बनते हैं।

आप्त के द्वारा कथित आगम ही शास्त्र है। वे शास्त्र पदार्थों की सिद्धि सम्यक् प्रकार से करते हैं। वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं तथा विषयरूपी विष का उच्चाटन करने में समर्थ होते हैं ।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने लिखा है

आप्तोपज्ञमनुलंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार -९)

इस श्लोक के द्वारा शास्त्र के लिए छह अनिवार्य पहलुओं का वर्णन किया गया है।

१. शास्त्र आप्त के द्वारा कथित हो। २. शास्त्र अनुलंघ्य हो।
३. शास्त्र अदृष्टेष्टविरोधी हो। ४. शास्त्र तत्त्वोपदेश को करने वाला हो।
५. शास्त्र सर्वहितकारी हो। ६. शास्त्र कापथपरिहारे हो

परन्तु लोक में शास्त्रों की विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। कई लोग शास्त्र (वेद) को अपौरुषेय मानते हैं। कई लोग कुरआन व अभिसमादि मनगढन्त क्रियाओं अथवा कथाओं के संग्रह को ग्रंथ मानते हैं। कई लोग हिंसादि का पोषण करने वाले, विषय-कषायों का वर्धन करने वाले, अन्धश्रद्धा का विकास करने वाले तथा कुमार्ग पर ले जाने वाले कल्पित ग्रंथों को शास्त्र मान कर वृथा ही दुःख का उपार्जन कर रहे हैं।

मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है; तीनों जब एक आत्मस्वरूप बन जाते हैं, तब कर्मों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है, परन्तु आप्त-प्रणीत इस मोक्षमार्ग को अज्ञानी जीव स्वीकार नहीं करता है। अपने अज्ञान के वश हुआ वह दुर्बुद्धि मनमाने मार्ग को मोक्षमार्ग मानता है। यथा –

१. कोई मात्र भक्ति को ही मोक्षमार्ग मानते हैं।
२. कोई मात्र ज्ञान को ही मोक्षमार्ग मानते हैं।
३. कोई मात्र क्रिया को ही मोक्षमार्ग मानते हैं।
४. कोई भक्ति और ज्ञान को मोक्षमार्ग मानते हैं।
५. कोई ज्ञान और क्रिया को मोक्षमार्ग मानते हैं।
६. कोई भक्ति और क्रिया को मोक्षमार्ग मानते हैं।

आचार्य श्री अकलंक देव लिखते हैं –

नान्तरीयकत्वात्, नहि त्रितयमन्तरेण मोक्षप्राप्तिरस्ति। कथम् ? रसायनवत्। यथा न रसायनज्ञानादेव रसायनफलेन अभिसम्बन्धः रसायनश्रद्धानक्रियाभावात्। यदि वा रसायनज्ञान मात्रादेव रसायनफलसम्बन्धः कस्यचिद्दृष्टः सोऽभिधीयताम् ? न चासावस्ति न च रसायनक्रिया मात्रादेव, ज्ञानश्रद्धाना भावात्। न च श्रध्दानमात्रादेव, रसायनज्ञानपूर्वक्रियासेवनाभावात्।अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसम्बन्धः, इति निःप्रतिद्वन्द्वमेतत्। तथा न मोक्षमार्ग ज्ञानादेव मोक्षेणाभिसम्बन्धो दर्शनचारित्राभावात् न च श्रद्धानादेव, मोक्षमार्ग ज्ञानपूर्वक-

क्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेव, ज्ञानश्रद्धानाभावात्। यतः क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति।

(राजवार्तिक - १/१/४९)

अर्थात् : तीनों की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे, रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल अर्थात् रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि इसमें रसायनश्रद्धान और रसायनक्रिया का अभाव है। यदि किसी ने रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल, (आरोग्य) देखा हो तो बतावे ? परन्तु रसायन के ज्ञानमात्र से आरोग्यफल मिलता नहीं है। न रसायन की क्रियामात्र से रोगनिवृत्ति होती है, क्योंकि इसमें रसायन के आरोग्यता गुण का श्रद्धान और ज्ञान का अभाव है तथा ज्ञानपूर्वक रसायन का सेवन किये बिना केवल श्रद्धानमात्र से भी आरोग्यता नहीं मिल सकती। इसलिए पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका विधिवत् सेवन आवश्यक है। जिसप्रकार यह विवाद रहित है, उसीप्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव में सिर्फ ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्षमार्ग के ज्ञान और तदनुरूप क्रिया के अभाव में सिर्फ श्रद्धान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान और श्रद्धान से शून्य क्रियामात्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है, क्योंकि ज्ञानश्रद्धान रहित क्रिया निष्फल होती है।

मोक्षमार्ग का स्वरूप न जानने से यह जीव क्लेशित हो रहा है।

इस आशय का श्लोक आचार्य श्री ब्रह्मदत्त ने परमात्मप्रकाश की टीका में कहीं से उद्धृत किया है। यथा-

अन्यथा वेदपाण्डित्यं, शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा।
अन्यथा परमं तत्त्वं, लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा।।

अर्थात् : वेदशास्त्र तो अन्यतरह ही है तथा ज्ञान की पण्डिताई कुछ और ही है, परमतत्त्व कुछ भिन्न ही है, लोग अन्य मार्गों में लगे हुए हैं। अतः दुःख उठा रहे हैं।

सम्यक्प्रकार से तत्त्वमर्यादा को जानकर उसपर यथार्थ श्रद्धान करने से ही आत्मा का कल्याण संभव है।

सिद्धों का ध्यान

वर्णातीतं कलातीतं,गन्धातीतं विनिर्दिशेत् ।
पूर्वं द्वन्द्वविनिर्मुक्तं, ध्यायेदर्हत्सदा शिवम् ॥११॥

अन्वयार्थ :

(वर्णातीतम) वर्ण से अतीत **(कलातीलम्)** शरीर से अतीत **(गन्धातीतम)** गन्ध से अतीत **(विनिर्दिशेत्)** जानना चाहिये **(द्वन्द्वविनिर्मुक्तम्)** द्वंद्वों से मुक्त **(अर्हत्)** पूज्य **(शिवम्)** सिद्धों को **(सदा)** सदैव **(पूर्वम्)** पहले **(ध्यायेत्)** ध्याना चाहिये।

अर्थ : वर्णातीत, कलातीत, गन्धातीत, सर्व प्रकार के द्वंद्वों से मुक्त, पूज्य सिद्धों का हमेशा सर्वप्रथम ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ : जिन्होंने द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का आत्यन्तिक क्षय किया है, जो द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार से विमुक्त हो चुके हैं, जो निष्ठितार्थ को प्राप्त कर चुके हैं, करने योग्य समस्त कार्य जिन्होंने कर लिये हैं तथा जो सिद्धशिला पर विराजमान हैं वे सिद्ध हैं।

प्रस्तुत कारिका में सिद्धों के लिए चार विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

१. वर्णातीत : जैसे चेतना आत्मा का अनन्य गुण है, उसीप्रकार वर्ण पुद्गल का असाधारण गुण है। पुद्गल का लक्षण करते हुए उमास्वामी महाराज लिखते हैं -

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।

(तत्त्वार्थसूत्र ५/२३)

अर्थात् : जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त हो वह पुद्गल है।

सिद्ध प्रभु पुद्गल द्रव्य से पूर्ण पृथक् हो चुके हैं। अतः उनमे लाल, पीला, नीला, काला और सफेद आदि वर्ण नहीं हैं। वर्ण जाति को भी कहते हैं। जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि भेद हैं। ये भेद सिद्धों में नहीं होते हैं, इसलिए भी वे वर्णातीत हैं।

२. कलातीत : जैनागम में कल शब्द का अर्थ शरीर है। शरीर नामकर्म का एक भेद है। वह पाँच प्रकार का है - औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। ये पाँचों ही शरीर आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा व कार्मणवर्गणा के द्वारा निष्पन्न होते हैं अर्थात् आहारवर्गणा से औदारिक, वैक्रियक और आहारकशरीर का निर्माण होता है। तैजसवर्गणा से तैजस व कार्मणवर्गणा से कार्मणशरीर बनता है। ये वर्गणाएँ पुद्‌गल की स्कन्धरूप पर्यायें हैं। स्कन्ध परमाणुओं का समुदाय है व परमाणु पुद्‌गल है। अतः सम्पूर्ण शरीर नियमतः पुद्‌गलमय हैं। सिद्धप्रभु मात्र ज्ञानशरीरी होने से कलातीत कहलाते हैं।

३. गन्धातीत : गन्ध पुद्‌गलद्रव्य का विशेष गुण है। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये गन्ध के दो भेद हैं। पुद्‌गलद्रव्य से अत्यन्त विविक्त हो जाने के कारण सिद्धप्रभु में किसी भी प्रकार की गन्ध नहीं होती। अतः वे गन्धातीत हैं।

४. द्वंद्वविनिर्मुक्त : द्वंद्व को परिभाषित करते हुए आर्ष कहता है **द्वंद्व कलह युग्मयोः।** द्वंद्व कलह और युग्म का नाम है ।

ज्ञानादिक परिणति और वैभाविक परिणतिरूप द्वैत स्थिति ही द्वंद्व है। सिद्धप्रभु ने परपरिणति को विनष्ट कर दिया है। राग-द्वेष की उत्पत्ति द्वंद्व है। राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति सिद्धों में नहीं होती है ।अतः वे द्वंद्वमुक्त हैं ।

इन चार विशेषणों से युक्त सिद्धों का ध्यान करना चाहिये।

शंका : सिद्धों का ध्यान क्यों करना चाहिये?

समाधान : संसार में यह नियम है कि **यद् ध्यायति तद् भवति** जीव जैसा विचार करता है, उसीतरह बन जाता है। आत्मा का कल्याण करने की इच्छा करने वाला भव्य स्वस्वरूप की प्राप्ति करके निर्धूतकलिलात्मा बनना चाहता है। मनुष्य को जिस पथ पर जाना होता है, उसी पथ का आदर्श उसे बनाना पड़ता है। शुद्धात्मा बनने के लिए सिद्धों से श्रेष्ठ आदर्श अन्य कोई नहीं है। अतः सिद्धों का ध्यान करना चाहिये।

सिद्धपरमात्मा और मेरी आत्मा में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। मैं अपने आप को शुद्ध बनाकर उनके समान बन सकता हूँ, ऐसा विश्वास करके तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

आत्मभावना

गच्छन् वा यदि वा सुप्त,आलापं चापि भोजनम् ।
कुर्वन्नाप्नोति तद्ध्यानं,येनात्मा लभते शिवम् ॥१२॥

अन्वयार्थ :

(यदि) यदि **(गच्छन्)** चलते हुए **(वा)** अथवा **(सुप्त)** सोते हुए **(वा)** अथवा **(आलापम)** बोलते हुए **(च)** और **(भोजनम)** भोजन को **(कुर्वन)** करते हुए **(तद्)** उस **(ध्यानं)** ध्यान को **(आप्नोति)** पाता है **(येन)** जिससे **(आत्मा)** आत्मा **(शिवम)** मोक्ष को **(लभत)** प्राप्त करता है।

अर्थ : १. चल रहा हो, सोया हुआ हो, बोल रहा हो अथवा भोजन कर रहा हो, उससमय भी वह ध्यान को प्राप्त करता है। जिससे आत्मा शिवपद को प्राप्त करता हैं।

२. चलते हुए, सोते हुए, बोलते हुए, भोजन करते हुए आत्मा उस ध्यान को प्राप्त नहीं कर सकता जिससे वह शिवपद को प्राप्त करता है।

भावार्थ : अनन्तरपूर्व श्लोक में सिद्धप्रभु का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने **सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तं** यह विशेषण सिद्धों के लिए प्रयुक्त किया था। सिद्ध भगवान सकल द्वंद्वों से मुक्त होते हैं। उनके समान बनने के इच्छुक साधक का परम कर्तव्य है कि वह अपनी द्वंद्ववृत्तियों का शमन करें।

पूज्य के गुण हममें भी अवतरित हो, इसी हेतु से पूज्य का चिन्तन किया जाता है। यह अक्षरशः सत्य होते हुए भी इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता है कि तद्रूप आचरण भी हो।

आजतक यह जीव स्वस्वरूप से विभ्रमित हो जाने के कारण परपरिणति में लिप्त रहा, रागादि भावों ने उसके स्वभाव को आवृत्त कर लिया, कषायों ने इस जीव को निज के समान अनुरंजित कर लिया। फलतः वह स्व से दूरानुदूर ही जाता रहा, इससे संसारी जीव अतीव दुःख को प्राप्त करता रहा।

यदि यह जीव निज को उपलब्ध करना चाहे, अर्थात् (आगम भाषा में) यदि वह मोक्ष प्राप्त करना चाहे, तो उसे आत्मध्यान करना

चाहिये।

शंका : आत्मध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान : भेदविज्ञान को उपलब्ध करने वाले भव्यात्मा के द्वारा आत्मतत्त्व का ध्यान गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय अथवा ध्यान-ध्याता-ध्येय के विकल्पों से रहित होकर किया जाता है। उस ध्यान को ही आत्मध्यान कहते हैं।

आचार्य श्री देवसेन लिखते हैं :-

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंवि।
ण य धारणा वियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज।।

(आराधनासार - ७८)

अर्थात् : **जिसमें न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है। जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है। जिसमें धारणाओं का विकल्प भी नहीं है उसे शून्यध्यान समझो।**

सम्पूर्ण विकल्पों से रहित ध्यान आत्मध्यान है।

आगमशास्त्रानुसार पाँच पापों का आचरण करना बाह्य क्रिया है तथा कषाय और योगमय प्रवृत्ति आभ्यंतर क्रिया है। ये दोनों ही क्रियाएँ आत्मप्रदेशों को चंचल बनाया करती हैं। अतः इन दोनों का विनाश कर के स्वरूपगुप्त हो जाना अध्यात्मध्यान अथवा निर्विकल्पध्यान है।

स्वरूपगुप्त होना ही निर्विकल्पध्यान है। जिसे निर्विकल्पध्यान की सिद्धि हो गयी हो उसकी स्थिति का वर्णन करते हुए आचार्य श्री पूज्यपाद लिखते हैं -

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरिकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।।

(इष्टोपदेश - ४१)

अर्थात् - **जो आत्मतत्त्व में स्थिर हो गया है, वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। चलता हुआ भी नहीं चलता है और देखता हुआ भी नहीं देखता है। अर्थात् वह सम्पूर्ण क्रियाओं को करता हुआ कोई भी क्रिया नहीं करता है।**

विचारणीय यह है कि - **कुर्वन्नाप्नोति** - यह शब्द परस्पर विरुद्ध दो अर्थों का प्रतिपादक है। सन्धि विच्छेद करने पर

१. कुर्वन् + न - आप्नोति, करता हुआ प्राप्त नहीं होता है।

२. कुर्वन् + आप्नोति, करता हुआ प्राप्त होता है।

द्वितीय सन्धिगत शब्द ज्यादा सार्थक प्रतीत होता है, क्योंकि –

ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्

(लघु सिध्दान्त कौमुदी - ८९)

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुँट्।

अर्थात् - ह्रस्व से परे जो ङम्, वह है अन्त में **जिसके, ऐसा जो पद होता है, उससे परे अच् को नित्य ङमुँट् का आगम होता है।**

कुर्वन् में न् के पूर्व ह्रस्व स्वर है, पश्चात् अच् है। अतः ङमुँट् का आगमन होगा।

कुर्वन् - ङमुँट् + आप्नोति।

हलन्त्यम् ।

(लघु सिध्दान्त कौमुदी - १)

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात् ।

अर्थात् : उपदेश में **वर्तमान अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है।**

अतः ङमुट् का ट् इत्संज्ञक हुआ।

उकार उच्चारणमात्र के लिए है।

जहाँ ट् की इत्संज्ञा हो जाती है वहाँ ङ्, ण, न के साथ ङुँट्, णुँट् अथवा नुँट् आगम प्राप्त होंगे।

यहाँ कुर्वन् शब्द नकारान्त होने से नुडागम हुआ। उट् इत्संज्ञा को प्राप्त होने से नकार शेष रहा।

कुर्वन् - न् + आप्नोति, कुर्वन्नाप्नोति शब्द बना।

किन्तु श्लोक की संगति कुर्वन् - न + आप्नोति ऐसी सन्धि करने पर ही बैठ रही है।

आगमशास्त्र और व्याकरणशास्त्र इन दोनों की संगति बैठाकर ही अर्थ की प्रामाणिकता बनायी जा सकती है। दोनों के समन्वय के बिना अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। अतः इस श्लोक का अर्थ करते समय मैंने दोनों ही अर्थ स्वीकार किये हैं।

शुद्धात्मा के ध्यान का फल

यो नरः शुद्धमात्मानं, ध्यायेत्कृत्वा मनःस्थिरम्।
स एव लभते सौख्यं,निर्वाणं शाश्वतं पदम् ॥१३॥

अन्वयार्थ :

(यः) जो **(नरः)** मनुष्य **(मनः स्थिरम्)** मन को स्थिर **(कृत्वा)** करके **(शुद्धम् आत्मानम)** शुद्धात्मा को **(ध्यायेत्)** ध्याता है, **(स)** वह **(एव)** ही **(सौख्यम)** सौख्य को और **(शाश्वतम्)** शाश्वत **(निर्वाणम)** निर्वाण **(पदम्)** पद को **(लभत)** प्राप्त करता है।

अर्थ : जो मनुष्य मन को स्थिर करके शुद्धात्मा का ध्यान करता है, वह सौख्यरूप निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

भावार्थ : मन तीनों कालों में बटा हुआ है। वह अतीत की स्मृतियों को भी संचित करता है, भविष्य के स्वप्न भी देखता है और वर्तमान का चिन्तन भी करता है। स्मृति, चिन्तन और कल्पनाओं के कारण मन सर्वदा संकल्प-विकल्पों के झूले में झूलता रहता है। इन्द्रियाँ तो केवल प्रत्यक्ष में स्थित विषयों को ग्रहण करती हैं, परन्तु मन प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष वस्तुओं व विषयों का ग्राहक है। अतः मन इन्द्रियों से ताकतवर है।

इन्द्रियों के विषय सीमित क्षेत्र में हैं परन्तु मानसक्षेत्र अन्तहीन है। इतना ही क्या ? मन के संकेत पर ही पाँचों इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं। अतः मन को इन्द्रियों का राजा कहा गया है। नीतिकारों का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि **मन एव कारणं बन्धमोक्षयोः** मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है।

मन की गति भी अत्यन्त तीव्र है। उसकी गति को रोक पाना अत्यन्त दुरूह है। मन जल की तरह अधोगामी होता है। जैसे जल बिना किसी निमित्त के स्वभावतः अधोगमन करता है, उसीप्रकार मन स्वभावतः विभावों की ओर गमन करता है। यदि पानी को ऊर्ध्वगामी बनाना है, तो किसी यन्त्र का उपयोग करना पड़ता है। उसीतरह मन को उन्नत बनाने के लिए विविध यत्न करने पड़ते हैं।

ध्यानसाधना अत्यन्त विशुद्ध साधना है। यह साधना अत्यन्त कठिन भी है, क्योंकि इसके द्वारा मन का दिशापरिवर्तन करना है। चंचल, चपल और पापी मन को स्थिर करके आत्मकेन्द्रित करना है। इस साधना में मन की शक्ति का उपयोग अध्यात्म की दिशा में करना होता है। इसी साधना को जैनाचार्यों ने मनोगुप्ति कहा है।

उर्दू भाषा का एक शब्द है- अमन, उसका अर्थ है सुख। यदि इस शब्द पर गहराई से विचार किया जावे, तो वह बड़ा रहस्यमयी प्रतीत होता है। नञ् तत्पुरुष समास में नकार के आगे व्यंजनवर्ण आने पर न का अ हो जाता है। अर्थात् न - मन, अमन।

अमन का अर्थ सुख होता है, तो मन दुःखवाचक बन जायेगा।

इसलिए मन पर विजय प्राप्त किये बिना सुख की प्राप्ति होना असंभव है। जबतक मन कार्यरत है, तबतक चंचलता है। जहाँ चंचलता है, वहाँ योग है। योग जहाँ कहीं भी होगा, वहाँ आस्रव व बन्ध अवश्य होगा। जबतक मन कार्यरत होगा, तबतक वह संकल्प-विकल्प के जाल बुनता रहेगा। जबतक संकल्प-विकल्प की तरंगें चलेगी, आत्मा राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति में उलझेगा। राग और द्वेष से कर्मास्रव व कर्मबन्ध होगा। समय पाकर जब कर्म उदय में आते हैं, तो वे दुःख देते हैं। मन कारण है व दुःख हैं उसके कार्य। कारण में कार्य का उपचार करने से मन को ही दुःख कहा है।

जो मन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, वह कषायों और इन्द्रियों को भी नहीं जीत सकता और जो इन्द्रिय तथा कषायों को परास्त नहीं कर सकता, वह ध्यान के पावन क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता।

मन पर विजय प्राप्त करने के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, स्वाध्याय, व्रतपरिपालन, सत्संगति, संतोष, अनासक्तिभावना आदि उपाय किये जा सकते हैं। मनोजय आत्मविजय का प्रथम चरण है।

जब यह जीव परविकल्पों से पूर्णतया मुक्त होकर मन को सच्चिदानन्द स्वरूपी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के चिन्तन में लीन करता है अर्थात् अन्तर्लीन प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान करता है, तब वह शाश्वत पद के आलयस्वरूप निर्वाणसुख को प्राप्त कर लेता है।

धर्मध्यान के भेद

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।
रूपस्थं सर्व चिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम् ॥१४॥

अन्वयार्थ :

(मन्त्र) मन्त्र **(वाक्यस्थम्)** वाक्यों का ध्यान **(पदस्थम्)** पदस्थ है। **(स्वात्म)** स्वात्म **(चिन्तनम्)** चिन्तन **(पिण्डस्थम्)** पिण्डस्थध्यान है। **(सर्व)** सम्पूर्ण **(चिद्रूपम्)** चिद्रूप का ध्यान **(रूपस्थम्)** रूपस्थ है। **(निरञ्जनम्)** निरंजन ध्यान **(रूपातीतम्)** रूपातीत है।

अर्थ : मन्त्रवाक्यों का चिन्तन करना पदस्थध्यान है। स्वात्मचिन्तन पिण्डस्थध्यान है, चिद्रूप का ध्यान रूपस्थध्यान है तथा निरंजन सिद्धों का ध्यान रूपातीतध्यान है।

भावार्थ : चंचल मन को किसी एक विषय में स्थिर करना ध्यान है। शुभाशुभ के भेद से इसके दो भेद हैं। उनमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभध्यान हैं। धर्मध्यान भी चार प्रकार का माना गया है-पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। धर्मध्यान के इन्हीं चार भेदों का वर्णन प्रस्तुत कारिका में किया गया है।

१– **पदस्थ :** आचार्य श्री भास्करनन्दि ने लिखा है -

तव नामपदं देव, मन्त्रमैकाग्र्यमीर्यतः।
जपतो ध्यानमाम्नातं, पदस्थं त्वत्प्रसादतः॥

(ध्यानस्तव - २९)

अर्थात् : **हे देव! तुम्हारे प्रसाद से जो एकाग्रता को प्राप्त होकर आपके नामपद का (नाम के अक्षर स्वरूप मन्त्र का) जाप करता है, उसके पदस्थध्यान कहा गया है।**

एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के परमेष्ठीवाचक पवित्र मन्त्रपदों का उच्चारण करके ध्यान किया जाता है वह पदस्थ-ध्यान कहलाता है।

एक अक्षरी मन्त्र – ॐ, अ, हँ, ह्रीं, झ्वीं, श्रीं, क्लीं, ऐं आदि.

दो अक्षरी मन्त्र – सिद्ध , अर्हं, साहु आदि.

तीन अक्षरी मन्त्र – आचार्य, ॐ नमः, ह्रीं नमः, श्रीं नमः, क्लीं नमः आदि.

चार अक्षरी मन्त्र – अरिहन्त, आयरिय, ॐ ह्रीं नमः आदि.

पाँच अक्षरी मन्त्र – णमो सिद्धाणं, नमः सिद्धेभ्यः, अ सि आ उ सा आदि

छह अक्षरी मन्त्र – अरिहन्त -सिद्ध, अर्हद्भ्यो नमः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमो अर्हते आदि.

सात अक्षरी मन्त्र – णमो अरहंताणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं आदि.

आठ अक्षरी मन्त्र – नमोऽर्हत्परमेष्ठिने, ॐ णमो अरिहंताणं आदि.

नौ अक्षरी मन्त्र – णमो लोए सव्व साहूणं, अर्हत्सिद्धसाधुभ्यो नमः आदि.

सोलह अक्षरी मन्त्र – अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः आदि.

पैंतीस अक्षरी मन्त्र – पूर्ण णमोकार मन्त्र

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है –

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह ज्झाएह।

परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण।।

(द्रव्यसंग्रह - ४९)

अर्थात् : पंचपरमेष्ठी वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्र पद है, उनका ध्यान करो। अन्य मन्त्र गुरु के उपदेश से ग्रहण करो।

२ – *पिण्डस्थ :* आचार्य श्री वसुनन्दि ने लिखा है –

सियकिरण विप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेर परियरियं।

झाइज्जइ जं णिययं पिंडत्थं जाण तं झाणं।।

(वसुनन्दिश्रावकाचार - ४५९)

अर्थात् : श्वेत किरणों से स्फुरायमान और आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त जो निजरूप अथवा केवली तुल्य आत्मस्वरूप का ध्यान किया जाता है

वह **पिण्डस्थध्यान** है।

इस ध्यान में पाँच धारणाओं का वर्णन है।

१. *पार्थिवीधारणा* : ध्याता विचार करें कि यह मध्यलोक तरंग रहित समुद्र की तरह है। उसके मध्य में सुवर्ण के समान प्रभा वाला एक सहस्त्रदल कमल है। वह कमल केशर की पंक्ति से सुशोभित हो रहा है तथा एक लाख योजन विस्तार वाला है। उस कमल के बीचों बीच सुमेरु पर्वत के समान पीतवर्णीय एक कर्णिका है। उस कर्णिका पर श्वेतवर्ण वाला सिंहासन है और उस सिंहासन पर मेरी आत्मा विराजमान है। वह आत्मा राग-द्वेष, कर्म-नोकर्म एवं समस्त उपाधियों से रहित है। इस तरह चिन्तन करना पार्थिवीधारणा है।

२. *आग्नेयीधारणा* : ध्याता ऐसा विचार करें कि मेरे नाभिमण्डल में सोलह पंखुडियों वाला एक कमल है। कमल की पंखुडियों पर क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये सोलह बीजाक्षर लिखे हुए हैं। उस कमल की कर्णिका पर **ह्रीं** बीजाक्षर लिखा हुआ है। इस बीजाक्षर से धीरे-धीरे धूम फिर अग्नि की स्फुल्लिंगें निकल रही हैं, जो हृदयस्थ कमल को दग्ध कर रही हैं। हृदयस्थ कमल आठ दलों से युक्त व अधोमुखी है। उन पर क्रमशः ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के नाम लिखे हुए हैं। **ह्रीं** बीजाक्षर से निकली अग्नि इस कमल को जला देती है।

ध्याता फिर ऐसा विचार करें कि शरीर के बाहर त्रिकोणाकार एक अग्निमण्डल है, वह अग्निमण्डल र र र र बीजाक्षरों से व्याप्त है, उसके अन्त में स्वस्तिक है। यह अग्नि निर्धूम है व दैदीप्यमान है। अपनी ज्वालाओं से नाभिकमल और शरीर को भस्म कर दाह्य पदार्थ के न रहने पर स्वयं शान्त हो रही है। इसप्रकार से चिन्तन करना आग्नेयीधारणा है।

३. *मारुतिधारणा* : आग्नेयी धारणा के बाद ध्याता ऐसा चिन्तन करें कि आकाश में प्रचण्ड वायु उठ रही है। वह वायु मेरु पर्वत को भी कंपित कर रही है। मेघों को छिन्न-भिन्न करने में वह तत्पर है। वह समुद्र के जल को तरंगों से तरंगित कर रही है। धीरे-धीरे वह वायु तीव्रगति से दशों-दिशाओं में फैल रही है। पृथ्वीतल को विदीर्ण करके वह भीतर

प्रवेश कर रही है। इस प्रचण्ड वायु के वेग के कारण आग्नेयी धारणा में संचित सारी भस्म उड़ गई है! वायु स्वयं धीरे-धीरे शान्त हो रही है। ऐसा चिन्तन करना मारुतिधारणा है।

४. वारुणीधारणा : धर्मध्यान का आराधक पुरुष ऐसा चिन्तन करें कि आकाश घने और काले-काले मेघों से आच्छादित हो गया है, बिजली चमक रही है, इन्द्रधनुष दिखाई दे रहे हैं। सर्वत्र सघन अन्धेरा छा गया है! बीच-बीच में होने वाली बादलों की भयंकर गड़गड़ाहट दशों दिशाओं को उद्वेलित कर रही है। उन मेघों से निकली हुयी स्वच्छ जलधाराओं से गगनमण्डल व्याप्त हो गया है। जलधारा हम पर पड़ने लगी है। उस धारा में आग्नेयी धारणा में संचित भस्म समूह बहा जा रहा है और मेरी आत्मा निर्मल हो गयी है। ऐसा चिन्तन करना वारुणीधारणा है।

५. तत्त्वरूपवतीधारणा : अन्त में ध्यायक ऐसा चिन्तन करता है कि मैं सात धातुओं से रहित निर्मल आत्मा हूँ। मेरी कान्ति पूर्ण चन्द्रमा के समान दैदीप्यमान है। मैं सर्वज्ञ हूँ। अतिशयों से युक्त सिंहासन पर मैं विराजमान हूँ। सुरपति, उरगनाथ और नरनाथादि मेरी पूजा कर रहे हैं। मेरे आठों कर्म नष्ट हो गये हैं। मैं पुरुषाकार होकर सिद्ध परमेष्ठी की सदृशता को प्राप्त कर कर रहा हूँ। मैं जन्म, जरा, मरण से अतीत हो गया हूँ। मेरे अनन्त गुण प्रकट हो चुके हैं। मैं निकल परमात्मा हूँ। ऐसा चिन्तन करना तत्त्वरूपवतीधारणा है।

३- रूपस्थध्यान : आचार्य श्री देवसेन ने लिखा है -

यारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देह बाहिरे तह य।
अप्पा सुद्ध सहावो तं रूवत्थं फुडं झाणं।।

(भावसंग्रह - २३)

अर्थात् : पिण्डस्थ ध्यान में कहे हुए अपने ही शरीर में स्थित अपने ही शुद्ध, निर्मल और अत्यन्त दैदीप्यमान आत्मा के ध्यान के समान शरीर के बाहर अपने ही शुद्ध निर्मल, अत्यन्त दैदीप्यमान आत्मा का ध्यान करना रूपस्थ धर्मध्यान है।

इसके दो भेद हैं - स्वगत रूपस्थ और परगत रूपस्थ। स्वगत रूपस्थ में स्वयं के शुद्धस्वरूप का व परगत रूपस्थ में अरिहन्त का ध्यान

किया जाता है।

रूपस्थ धर्मध्यान का ध्यायक समवशरण में विराजमान अरिहन्त प्रभु का ध्यान करता है। कभी वह अरिहन्त के गुणों को विचारता है, तो कभी उनकी बाह्यविभूति का विचार करता है। कभी बारह सभाओं का चिन्तन करता है, तो कभी योगनिरोध करने वाले केवली का चिन्तन करता है।

४- *रूपातीत धर्मध्यान :* आचार्य श्री गुणभूषण लिखते हैं -

गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं बोधदृङ्मयम् ।
यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं, तद्ध्यानं रूपवर्जितम् ।।

(गुणभूषण श्रावकाचार - ३/३५)

अर्थात् : गन्ध, वर्ण, रस और स्पर्श से रहित केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त अरिहंत के रूप का जो चिन्तन किया जाता है वह रूपातीत धर्मध्यान है।

उपर्युक्त गाथा में अरिहन्त के ध्यान को रूपातीत कहा है। परन्तु सर्वत्र सिद्धों का ध्यान ही रूपातीतध्यान का ध्येय माना गया है।

द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से सिद्धपरमेष्ठी रहित हैं। आठों कर्मों का निर्मूल नाश हो जाने के कारण उनके आठ महागुण प्रकट हो चुके हैं। वे अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून आकार से लोकाग्र के शिखर पर विराजमान हैं। यद्यपि क्षेत्र, काल, गति, लिंग, चारित्र, तीर्थ, प्रत्येक बुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व की अपेक्षा उनमें भेद हैं, परन्तु आत्मगुणों की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है। इसतरह सिद्धस्वरूप का चिन्तन करना रूपातीत धर्मध्यान है।

बारह भावनाओं का चिन्तन करना, सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का विचार करना, कर्मादिक के फलों का विचार करना, संसारी जीवों को दुःखों से मुक्ति दिलाने वाले उपायों का विचार करना अथवा लोक के आकार का विचार करना आदि भी धर्मध्यान के विषय हैं।

धर्मध्यान परिणामों को निर्मल बनाने में सहयोग करता है। धर्मध्यान मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत ऐसे शुक्लध्यान की भूमिका की निर्माता है तथा मोक्ष का परम्परा से कारण है।

योगी का कर्त्तव्य

कषायं नोकषायं च,कर्म-नोकर्म ह्येव च।
मनोऽतीन्द्रिय सर्वस्व, त्यक्त्वा योगी समाचरेत्॥१५॥

अन्वयार्थ :

(हि) निश्चय से **(योगी)** योगी **(कषायम्)** कषायो को **(च)** और **(नोकषायम्)** नोकषायों को **(कर्म)** कर्म को **(च)** और **(नोकर्म)** नोकर्म को **(त्यक्त्वा)** छोड़कर **(मनः)** मन **(अतीन्द्रिय)** अतीन्द्रिय **(सर्वस्व)** सर्वस्व का **(एव)** ही **(समाचरेत्)** आचरण करें।

अर्थ : निश्चय से योगी कषाय, नोकषाय, कर्म और नोकर्म को छोड़कर मन अतीन्द्रिय सर्वस्व का आचरण करें ।

भावार्थ : इस कारिका में कषायादि को तजने का सदुपदेश दिया गया है।

अ. कषाय – आचार्य श्री अकलंकदेव लिखते हैं -

कषत्यात्मानमिति कषायः।

(राजवार्तिक ६/४/२)

अर्थात् : **जो आत्मा को कसे, दुःख देवे वह कषाय है।**

सामान्यतया क्रोध, मान, माया और लोभ की अपेक्षा से कषाय के चार भेद हैं तथा विशेषरूप से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ की अपेक्षा से सोलह प्रकार हैं।

ब. नोकषाय – आचार्य श्री पूज्यपाद लिखते हैं -

ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति।

(सर्वार्थसिद्धि - ८/९)

अर्थात् : **किंचित् अर्थ में नञ् का प्रयोग होने से किंचित् कषाय को अ-कषाय कहा है। अकषाय ही नोकषाय है।**

जो मनोवृत्तियाँ कषायों को उत्तेजित करने वाली हैं, उन्हें नो-

कषाय कहते हैं। इन्हें नोकषाय इसलिए कहा गया है कि जीवों की स्वाभाविक जन्मजात प्रवृत्तियाँ जो जीवों में उत्पन्न होती रहती हैं, वे स्वयं तो कषायरूप नहीं है, परन्तु इन वृत्तियों के उत्पन्न होने पर मनुष्य इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए रागादि से प्रेरित होकर क्रोधादिक से मलिन हो जाता है और नाना प्रकार के उद्यम करता है। इसलिए उन्हें कषाय नहीं, नोकषाय कहा है।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद की अपेक्षा से नोकषाय के नौ भेद हैं।

स्त कर्म -- आचार्य श्री विद्यानन्द लिखते हैं -

जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादि परिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि।

(आप्तपरीक्षा - ११४/२९६)

अर्थात् : जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा, जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं, उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं।

जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तियाँ जो कि शुभ और अशुभरूप होती हैं, उनका निमित्त पाकर जो पुद्गलपिण्ड आत्मा की ओर आकृष्ट होकर आत्मा में दूध-पानी की तरह घुल-मिल जाता है उसे कर्म कहते हैं।

कर्म, आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गलद्रव्य का ऐसा विभाव परिणाम है, जो आत्मप्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होता है तथा आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही हो जाता है। जिसप्रकार भोजन, विष आदि पदार्थ परिपाक की अवस्था में अपना प्रभाव प्राणियों पर डालते हैं, उसी प्रकार विपाक दशा में कर्म भी आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं।

भोजनादि की प्रवृत्ति स्थूलरूप होती है। अतः वह इन्द्रियग्राह्य है। कर्मग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्मरूप में होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है। स्थूल होने के कारण भोजनादि पुद्गल प्रचयों की शक्ति अल्प होती है, परन्तु कर्मप्रचय सूक्ष्म होते हुए भी महाशक्ति वाला है। जैसे भोजन शरीर का आधार है, उसीप्रकार कर्म भी संसारत्व के आधार हैं। कर्म के कारण ही यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

शंका : आत्मा अमूर्तिक है, फिर उसे कर्म का बन्ध कैसे होता है ?

समाधान : ऐसी एकान्त मान्यता नहीं रखनी चाहिये। कर्मबन्ध की अपेक्षा से आत्मा मूर्तिक भी है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र कहते हैं -

ववहारा मुत्ति बंधा दु ।

(द्रव्यसंग्रह - ७)

अर्थात् : बन्ध के कारण आत्मा व्यवहारनय से मूर्तिक है।

अतः आत्मा को कर्मबन्ध होने में कोई दोष नहीं है।

कर्म के दो भेद हैं , द्रव्यकर्म और भावकर्म ।

उसमें से द्रव्यकर्म आठ प्रकार का है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । भावकर्म आत्मा की राग-द्वेषमयी परिणति है। वे आठों ही कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ बन्धनबद्ध है।

द . नोकर्म : नो शब्द द्व्यार्थक है, निषेधार्थक और ईषदर्थक। यहाँ नो शब्द का प्रयोग ईषदार्थ में हुआ है। जो कर्म के सहकारी होते हुए भी कर्मों के समान आत्मा के गुणों का घात करने में असमर्थ होते हैं अथवा जो आत्मा को गत्यादिकरूप पराधीन नहीं बना सकते, वे नोकर्म हैं।

इन्हें नोकर्म कहने का प्रमुख कारण यह है कि वे भावकर्म की तरह द्रव्यकर्मों के निर्माता नहीं हैं तथा द्रव्यकर्मों की तरह भावकर्मों की उत्पादक सामग्री नहीं हैं। उनको स्वतन्त्र कर्म भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, कर्म करते समय और कर्मों का फल भोगते समय ये नोकर्म सहायक जरूर बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मविपाक की सहायक सामग्री को नोकर्म कहते हैं। इसके नौ भेद हैं। यथा- औदारिक, वैक्रियक और आहारक ये तीन शरीर तथा आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्ति।

ग्रंथकार कहते हैं कि जो योगी कर्म, नोकर्म, कषाय और नोकषाय इन चारों का त्याग करके मन को अतीन्द्रिय सर्वस्वरूप शुद्धात्मा के ध्यान में लगाता है, वे योगी परमात्मपद के अधिकारी बन जाते हैं।

आत्माचरण

आत्मा सत्यं परिज्ञाय, सर्वकर्मपरित्यजेत् ।
आत्मानन्तत्त्ववद् भावं, ज्ञानकर्मसमाचरेत् ॥१६॥

अन्वयार्थ :

(आत्मा) आत्मा **(सत्यम्)** सत्य है ऐसा **(परिज्ञाय)** जानकर **(सर्व)** समस्त **(कर्म)** कर्मों का **(परित्यजेत्)** त्याग करें। **(आत्मा)** आत्मा **(अनन्तत्त्ववत्)** अनन्त है, ऐसे **(भावम्)** भावरूप **(ज्ञानकर्म)** ज्ञानकर्म का **(समाचरेत्)** आचरण करें।

अर्थ : आत्मा सत्य है ऐसा परिज्ञान करके सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करें। आत्मा अनन्त है ऐसे भावरूप ज्ञानकर्म का आचरण करें।

भावार्थ : आत्मा को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री ब्रह्मदत्त ने लिखा है –

अत् धातु सातत्य गमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते।

अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासंभवं तीव्रमन्दादि रूपेण आसमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा।

अथवा, उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा।

(बृहद् द्रव्यसंग्रह - ५७)

अर्थात् : अत् धातु निरन्तर गमन करने के अर्थरूप में है। सम्पूर्ण गमनार्थक धातु नियम से ज्ञानार्थक होती हैं– इस सूत्र वचन से यहाँ गमन शब्द से ज्ञान अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिये। इसकारण से जो यथासंभव ज्ञानसुखादि गुणों में चारों ओर से वर्तन करता है उसे आत्मा कहते हैं।

अथवा, जो शुभाशुभ मन, वचन और काय के व्यापार के द्वारा तीव्र-मन्द आदि रूप से यथासंभव वर्तन करता है वह आत्मा है।

अथवा, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा पूर्णरूपेण वर्तन करता है वह आत्मा है।

अत् धातु में मनिन् प्रत्यय लगाने पर आत्मन् शब्द बनता है। सुबन्त प्रत्ययों में जब आत्मन् के साथ सु-प्रत्यय जोड़ा जाता है, तब आत्मा शब्द का निर्माण होता है।

ग्रंथकार ने इस कारिका में आत्मा के विषय में विशुद्ध चिन्तन करने का उपदेश दिया है।

आत्मा सत्यं परिज्ञाय (आत्मा सत्य है, ऐसा जानकर) अध्यात्मशास्त्रों का केन्द्रबिन्दु आत्मा है। वह आत्मा यद्यपि त्रिकाल शुद्ध है तथापि परद्रव्यों के संसर्ग के कारण वह अशुद्ध हो रही है। संसार अवस्था उसकी अशुद्ध अवस्था है। ये पर्यायें जीव और पुद्गल के संयोग से निर्मित हुआ करती हैं। अज्ञानी जीव स्व-पर भेदविज्ञान के अभाव में यह जान नहीं पाता कि इस संयोगी पर्याय में आत्मतत्त्व क्या है ? और पुद्गल द्रव्य क्या है ? यही कारण है कि अज्ञानी पर्यायों को शाश्वत और सत्य मानकर उसमें प्रीति करने लगता है। उसका यह प्रयत्न सतत होता है कि चाहे जो कुछ कर गुजरना पड़े, परन्तु पर्याय को कष्ट नहीं होना चाहिये। ग्रंथकार कहते हैं कि संयोगी पर्यायों को अपनी मानना मिथ्या मान्यता है। अतः आत्मा के सत्यस्वरूप को जान लेना चाहिये।

आत्मा में स्वभाव से ही वैभाविक शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति के कारण ही आत्मा विभावरूप से परिणमन करता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो सर्वथा शुद्ध है किन्तु पर्यायें अशुद्ध हैं। उनका ऐसा मानना युक्ति और आगम से विपरीत है। आत्मा एक द्रव्य है। द्रव्य नियमतः गुण और पर्यायों से युक्त होते हैं। गुण और पर्याय के समूह के अतिरिक्त आत्मा कुछ भी नहीं है। द्रव्य और पर्यायों का आधार-आधेय सम्बन्ध है। जब पर्याय अशुद्ध होगी, तो पर्यायों का आधार द्रव्य भी अशुद्ध ही होगा।

यही बात आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव को इष्ट है। उन्होंने सत्य की अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है -

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्म परिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो।।

(प्रवचनसार- ८)

अर्थात् - **द्रव्य जब जिस रूप से परिणमन करता है, तब वह वही कहलाता है।** इसलिए **धर्म से परिणत आत्मा धर्म ही कहलाता है।**

यदि आत्मा त्रिकाल में शुद्ध ही है - ऐसा एकान्त किया जायेगा तो आत्मा के अबन्धक होने का प्रसंग आयेगा तथा इससे सांख्यमत का ही पोषण होगा। इसलिए आत्मा को सत्यरूप से जानना चाहिये।

सर्वकर्मपरित्यजेत् (सर्व कर्मों का त्याग करें) परद्रव्य में अपनत्व का भाव ही प्रीति या राग है। **रत्तो बंधदि कम्मं। (समयसार - १५०)** राग से कर्मबन्ध होता है। जब आत्मा सत्य है ऐसी प्रतीति हो जायेगी तो परद्रव्य से आसक्ति का नाश हो जायेगा। राग का विनाश होने पर कर्मबन्ध नहीं होगा व पूर्वबद्ध कर्म नष्ट हो जायेंगे।

आत्मानन्तवद्भावम् (आत्मा अनन्त है ऐसा भाव) आत्मा का न आदि है, न मध्य है और न अन्त है। इसलिए आचार्यों ने आत्मा को अनादिमध्यान्त कहा है। अनादिमध्यान्त का अर्थ अविनाशी है। इसप्रकार के भावों से युक्त होकर -

ज्ञानकर्मसमाचरेत् (ज्ञानमय कर्म में आचरण करें।) क्रिया दो तरह की होती है ज्ञानमय और रागमय। परद्रव्य सापेक्ष क्रिया रागमय कहलाती है। रागमय क्रियाएँ संसारवर्धिनी क्रियाएँ हैं तथा ज्ञानमय क्रियाएँ मोक्षदायिनी क्रियाएँ हैं। अतः रागमय क्रियाओं का पूर्णरूपेण परित्याग करके ज्ञानमय क्रियाएँ करनी चाहिये।

जिसने ज्ञान और राग के मध्यवर्ती अन्तर को समझ लिया है ऐसे भव्यात्मा को सहजतया ही आत्मतत्त्व में स्थिरता प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि आत्मतत्त्वविचक्षण ध्याता को बाह्यक्रियाएँ बन्ध का कारण नहीं होती।

इसप्रकार ज्ञानमय आचरण जिस आत्मा का बन जाता है वह आत्मा अपने ऊपर लगे हुए समस्त कलिमलों का उच्चाटन करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है।

आत्मा का कर्त्तव्य

तस्मात्कर्म परित्यज्य, स्वात्मतत्त्वं समाचरेत् ।
आचरितात्मतत्त्वश्च, स्वयमेव परो भवेत् ॥१७॥

अन्वयार्थ :

(तस्मात्) इसलिए **(कर्म)** कर्मों का **(परित्यज्य)** परित्याग करके **(स्वात्मतत्त्वम्)** आत्मतत्त्व का **(समाचरेत्)** आचरण करें **(च)** और **(आत्मतत्त्वः)** आत्मतत्त्व का **(आचरिता)** आचरण करने से जीव **(स्वयमेव)** स्वयं ही **(परः)** परमात्मा **(भवेत्)** होता है।

अर्थ : कर्मों को छोड़कर आत्मा का आचरण करने वाला जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है।

भावार्थ : मनुष्य अपने जीवन में जिसतरह का ध्येय लेकर चलता है, वह वैसा ही बन जाता है - यह सृष्टिगत नियम है। अतएव आत्मसाधक को उत्तम ध्येय बनाना चाहिये ऐसा पूर्वाचार्यों का अभिमत है। प्रतिसमय ध्याता यदि निज टंकोत्कीर्ण, अनन्तगुणों से संपन्न आत्मा का ध्यान करता है तो वह मोक्ष प्राप्त करता है। क्योंकि मोक्ष का लक्षण **स्वात्मतत्त्व प्राप्तिरूपं मोक्षमस्ति।** (स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति स्वरूप मोक्ष है।)

आत्मध्याता को ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं अनन्तज्ञान-स्वरूपी हूँ। मैं अनाकुलत्व लक्षण है जिसका, ऐसे परम सौख्य से सम्पन्न हूँ। मैं परम वीतराग हूँ ।ये शरीरादि परद्रव्य मेरे नहीं हैं। मैं परमशुद्ध द्रव्य चेतन हूँ।

चिन्तन की प्रक्रिया को समझाते हुए आचार्य श्री अमितगति लिखते हैं :

कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्ते कथं साम्प्रतम् ।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम् ।।
इत्थं सर्व विचारणा विरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः।
जन्माम्भोधिविवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः।।

(तत्त्वभावना - २३)

अर्थात् : मेरा कौनसा काल है ? अब मेरा कौनसा जन्म है ? वर्तमान में मैं किस विधि से वर्ताव करूं ? हम इसप्रकार की सर्व विवेकबुद्धि को न करते हुए तथा आत्मा के हितकर आचरण को दूर ही रखते हुए जगत् के (संसार समुद्र के) भंवर में पटकने वाले आचरणों को निरन्तर करते रहते हैं।

जो आत्मतत्त्व का विचार करता है वही जीव विवेक से संपन्न है। आत्मतत्त्व के विचार से हीन सर्वथा मूढ़बुद्धि जीव आत्मोन्नति के पावन पथ पर कदम ही नहीं रख पाते। वे ऐसा कोई भी आचरण नहीं करते, जिससे कि आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु के संताप को नष्ट करके शाश्वत सौख्य को प्राप्त कर सके।

वे पदार्थासक्त निशियाम विषय-कषायों के गहन वन में भटकते रहते हैं। महामोह उनके ज्ञानचक्षुओं को मूंद देता है, जिससे वे नाना अनर्थकारी क्रियाएँ करने लगते हैं। सन्मार्ग से उपरत होकर वे संसारवर्धक बहुविध अनुष्ठानों को रुचिपूर्वक करते हैं। वे स्वात्मा को सन्तापित करने वाले आरंभ, परिग्रहादि कार्यों से द्रव्यकर्मों को बांध कर संसार सागर में उन्मज्जन-निमज्जन करते हुए जन्म और मरण की सन्तति को प्राप्त करते रहते हैं।सम्पूर्ण कर्मों को दूर करके जब यह आत्मा निज आत्मतत्त्व में रममाण हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मप्रत्ययों का दूर होना आवश्यक है। कर्मप्रत्ययों का निस्तारण करने का एकमात्र उपाय है आत्मतत्त्व का आचरण यानि ध्यान। अतः परमात्मपदेच्छु के लिए ध्यान ही सर्वथा उपादेय है।

शंका : ध्यान क्या है?

समाधान : आत्मा का स्वरूप ज्ञान और दर्शन है। आत्मा का आत्मस्वरूप में अविचल हो जाना ध्यान है। यह परमध्यान ही मोक्ष का कारण है।

कर्म और नोकर्मरूप द्रव्य का परित्याग करने वाला ध्यायक ही अपना उपयोग आत्मकेन्द्रित कर सकता है। जिसने अपने साकार तथा अनाकार इन दो उपयोगों को अपने आप में लगा लिया है, वह परमात्मा बन जाता है।

पुण्य की प्रेरणा

पापकर्मपरित्यज्य, पुण्यकर्मसमाचरेत् ।
भावयेदशुभं कर्म, त्यक्त्वा योगी समाचरेत् ॥२८॥

अन्वयार्थ :

(पापकर्म) पापकर्म को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(पुण्यकर्म)** पुण्यकर्म का **(समाचरेत्)** आचरण करें। **(पुण्यकर्म)** पुण्यकर्म की **(भावयेत्)** भावना करके **(योगी)** योगी **(अशुभम्)** अशुभ **(कर्म)** कर्म को **(त्यक्त्वा)** छोड़ कर **(समाचरेत्)** आचरण करें।

अर्थ : पापकर्म का त्याग करके पुण्यकर्म का आचरण करना चाहिये। योगी को चाहिये कि वह पुण्यकर्म की भावना करते हुए अशुभ कर्म को छोड़ें।

भावार्थ : अनादिकाल से कर्ममलिमस आत्मा चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्व-स्वभाव की आराधना से च्युत हो जाने के कारण आत्मा पर के द्वारा उत्प्रेरित हो अपने स्वत्व को खो रहा है। मैं अनन्त सुखों का पिण्ड हूँ इस बोध से रहित हो जाने के कारण वह पर में ही सुख को खोज रहा है। परद्रव्य को अपना निजरूप मान कर वह उसमें इतना आसक्त हो रहा है कि पर से भिन्न भी मेरा अस्तित्व है, ऐसी समझ उसमें उत्पन्न नहीं हो पायी है। यही कारण है कि वह सदैव दुःख भोग रहा है।

निज स्वात्मतत्त्व से विमुख होकर विषय-कषायों में लीन हो जाना, स्व-पर के परिचय की अनभिज्ञता से पर को ही स्व मान लेना अथवा स्व-पर की भेदानुभूति से रहित होकर पर में अनुरक्त हो जाना रूप आत्मा की वैभाविक परिणति है, उससे जो उत्पन्न होता है वह पाप है।

पाप को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री भास्करनन्दि ने लिखा है –

पाति रक्षत्यात्मानमस्मात् शुभ परिणामादिति पापं मतम् ।

(सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति - ६/३)

अर्थात् : जो आत्मा को शुभ परिणामों से बचावे वह पाप है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो आत्मा को आत्महितकर कार्यों से दूर रखे वह है पाप। जो आत्मा को आत्मतत्त्व के ध्यान से विमुख कर दे वह है पाप। जो आत्मा को कर्म कलंक से कलंकित कर दे वह है पाप। जो आत्मा को अपना परिचय प्राप्त न करने दे वह है पाप। जो आत्मा को सन्मार्गगामी न बनने दे वही है पाप अथवा जो आत्मा को मोक्ष जाने से रोके वह है पाप। यहा पाप का परिचय है।

पुण्य की परिभाषा करते हुए आचार्य श्री भास्करनन्दि ने लिखा है -

कर्मणः स्वातन्त्र्यविवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्।

(सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति - ६/३)

अर्थात् : कर्म की स्वातन्त्र्य विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है।

यहाँ पर अशुभकर्मों को तजने का उपदेश दिया है। ग्रंथकार कहते हैं कि पुण्यकर्म की भावना करते हुए आत्मा को अशुभकर्मों का त्याग करना चाहिये।

शंका : आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का मन्तव्य है -

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहुमसुहं वा कदं कम्मं।।

(समयसार - १४६)

अर्थात् : जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है, उसीप्रकार किया हुआ शुभाशुभ कर्म भी जीव को बांधता है।

आचार्य श्री योगीन्दुदेव ने यही आशय योगसार (७२) के माध्यम से व्यक्त किया है। संक्षिप्ततः यह अर्थ हुआ कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं। अतः दोनों समानरूप से त्याज्य हैं। फिर यहाँ पुण्य को ग्राह्य क्यों माना गया ?

समाधान : जब शुद्धस्वभाव अपेक्षित होता है, तब शुभ व अशुभ कर्म

दोनों भी समानरूप से हेय होते हैं। परन्तु साधनामार्ग की दृष्टि से शुभ के द्वारा अशुभ का विनाश किया जाता है तथा शुद्धस्वभाव में रत होकर शुभ के विकल्प से मुक्त हुआ जाता है।

पुण्य और पाप को सर्वथा समान नहीं मानना चाहिये। दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द ने लिखा है –

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतु शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे।।

(तत्त्वार्थसार - ४/१०)

अर्थात् : हेतु और कार्य की विशेषता होने से पुण्य और पाप में अन्तर है। पुण्य का हेतु शुभभाव है। पाप का हेतु अशुभभाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है।

स्वयं आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने पुण्यक्रिया को इष्ट बताते हुए कहा है कि –

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छाया तवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।।

(मोक्षपाहुड - २५)

अर्थात् : व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होना अच्छा है, परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त करना अच्छा नहीं है। छाया और घाम में बैठकर इष्टस्थान की प्रतीक्षा करने वाले लोगों में महान् अन्तर पाया जाता है।

इस आशय का समर्थन आचार्य श्री पूज्यपाद ने भी किया है –

वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्बत नारकम् ।
छायातपस्तयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान्।।

(इष्टोपदेश-३)

इन आगम प्रमाणों को देखकर एकान्त मान्यता का त्याग करना चाहिये तथा शुद्धस्वभाव में पहुँचाने के लिए हस्तावलम्बनस्वरूप पुण्य का सहयोग लेकर अनादि संसार के कारणभूत पापों का विनाश करना चाहिये। पापों का विनाश हो जाने पर आत्मा को मोक्षमार्ग में मिलने वाली सहायक सामग्री लक्ष्य की प्राप्ति में गति प्रदान करती है।

आत्मा का स्वरूप

अनन्तज्ञानमेवाहं, मनोवाक्कायवर्जितम्।
अत्ययविकलं शुद्धं, तत्पदं शुद्धसम्पदाम् ॥१९॥

अन्वयार्थ :

(अनन्तज्ञानम्) अनन्तज्ञान **(एव)** ही **(अहम्)** मैं हूँ। और मैं **(मनः)** **(वाक्)** वचन और **(कायवर्जितम्)** काया से रहित हूँ। **(अत्यय)** नाश **(विकलम्)** रहित हूँ। **(शुद्धम्)** शुद्ध हूँ और **(तत्)** उन **(शुद्धसम्पदाम्)** शुद्ध सम्पदाओं का **(पदम्)** पद हूँ।

अर्थ : मैं अनन्त ज्ञानसम्पन्न हूँ। मैं मन, वचन, काय से रहित हूँ। अविनाशी हूँ। मैं शुद्ध हूँ और शुद्ध सम्पदाओं का स्थान हूँ।

भावार्थ : इस कारिका में ग्रंथकार ने आत्मा के लिए पाँच विशेषणों का प्रयोग किया है।

अ. अनन्तज्ञानसम्पन्न : केवलज्ञान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक सीमा नहीं है अतः केवलज्ञान अनन्त है। आत्मा केवलज्ञानमय होने से अनन्तज्ञानसम्पन्न है।

शंका : अभी हमें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। इससमय में केवलज्ञान संपन्न हूँ ऐसा कथन या चिन्तन करना मिथ्या नहीं कहलायेगा?

समाधान : नहीं, चिन्तन या कथन का काम केवलज्ञान का नहीं, अपितु मति आदि क्षयोपशमिक ज्ञानों का है। आत्मा का चिन्तन जिसतरह का होता है, आत्मा उसी रूप से परिणमन करने लगता है इस मानसविज्ञान को विलोक कर ऐसे चिन्तन करने का उपदेश है।

आत्मगुणों के कथन करने की विधियाँ दो प्रकार की है।

१. व्यक्तरूप – जो गुण वर्तमान में प्रकट हैं, वे व्यक्तगुण हैं।

२. अव्यक्तरूप – जो गुण स्वभावगत तो हैं, परन्तु अभी उनकी अभिव्यक्ति नहीं है, उन गुणों को अव्यक्त गुण कहते हैं। इन्हें शक्तिरूप गुण भी कहते हैं।

आत्मा में जो केवलज्ञान नामक गुण है, वह शक्तिरूप में अभी

भी विद्यमान है। अतः मैं अनन्तज्ञानसंपन्न हूँ – ऐसा कथन या चिन्तन मिथ्या नहीं है। ऐसे चिन्तन से ध्यानी पुरुष का आत्मगुणों के प्रति उत्साह बढ़ता है।

दूसरा पक्ष यह भी है कि आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान और आत्मा का तादात्मसंबन्ध है। अतः ज्ञान कहो या आत्मा कहो, एक ही बात है। ज्ञान ज्ञेय को ग्रहण करता है और ज्ञेय अनन्त प्रदेशों में व्याप्त अनन्त गुण-पर्यायों से समन्वित छह द्रव्य हैं। जब ज्ञेय अनन्त हैं, तो उनको जानने वाला ज्ञान भी अनन्त है। अतः ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा से आत्मा को अनन्तज्ञान संपन्न कहा है।

ब . *मनवचनकायवर्जित* : मनोवर्गणा से मन, भाषावर्गणा से वचन तथा आहारवर्गणा से शरीर निष्पन्न होते हैं। ये वर्गणाएँ पौद्‌गलिक हैं। आत्मा पुद्‌गल द्रव्य से अत्यन्त भिन्न द्रव्य है। अतः वह पुद्‌गलों के द्वारा निर्मापित मन, वचन और काय से रहित है।

स . *अत्ययविकल* : अत्यय यानि नाश और विकल यानि रहित। अत्ययविकल शब्द का अर्थ अविनाशी है। द्रव्य अविनाशी ही होते हैं।

आचार्य श्री उमास्वामी महाराज लिखते हैं -

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।

(तत्त्वार्थसूत्र ५/३)

अर्थात् : द्रव्य नित्य, अविनाशी और अरूपी होते हैं।

अविनाशी का अर्थ पर्यायों के परिणमन से रहितता नहीं है। द्रव्य तो परिणमन किये बिना एक समय भी नहीं रहते क्योंकि उनमें उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य होता रहता है। नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होते हुए भी द्रव्य अपना मूल रूप नहीं छोड़ता है। यही उसका अविनाशीपना है। आत्मा भी प्रतिसमय पर्यायान्तर कर रहा है, फिर भी आत्मा अपनी आत्मशक्ति का त्याग नहीं करता। अतः आत्मा अत्ययविकल है।

शंका : आत्मा का नाश मानने में कौनसा दूषण आता है ?

समाधान : सृष्टि छह द्रव्यों का समुदाय है। सृष्टि की रचना के लिए सम्पूर्ण द्रव्यों का अस्तित्व आवश्यक होता है। आत्मा का यदि नाश माना जाये, तो सृष्टि में पाँच द्रव्य शेष रह जाते हैं, जिससे सृष्टि के नाश का

प्रसंग प्राप्त होता है।

आत्मा चैतन्यतत्त्व है। वह समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञाता के अभाव में ज्ञेयों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। अतः आत्मा का नाश स्वीकार करने पर समस्त सृष्टि के महत्त्वहीन होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

द . शुद्ध : आचार्य श्री ब्रह्मदत्त ने लिखा है -

शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः ।

(बृहद्द्रव्यसंग्रह - १३)

अर्थात् : आत्मा शुद्ध अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न जो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है उसका धारक है।

दो द्रव्यों का संयोग हो जाना द्रव्य का अशुद्ध होना है। शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से आत्मा सम्पूर्ण द्रव्यों से असम्पृक्त है। इसलिए आत्मा नित्यरूप से शुद्ध है। **रागद्वेषरहितत्त्वाच्छुद्धः** -- राग, द्वेष से रहित होने के कारण आत्मा को शुद्ध माना जाता है। समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से आत्मा भिन्न है अथवा आत्मा कैवल्यभाव से सम्पन्न है अतः वह शुद्ध है।

य . शुद्ध सम्पदा का पद : आत्मा में अनन्तगुण हैं। वे सारे गुण कर्मों के द्वारा आच्छादित हैं । जैसे मेघमाला का आडम्बर दूर हो जाने पर मेघाच्छादित सूर्य का प्रकाश और प्रताप प्रकट होता है और वह गगनमण्डल में प्रकाशमान हो जाता है, उसीप्रकार कर्मरूपी मेघों के तिरोहित हो जाने पर आत्मारूपी गगन में अनन्तगुणों की सम्पदारूपी सूर्य अपने प्रकाश व प्रताप से दैदीप्यमान हो जाता है। जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण में अथवा निर्मल जल में किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखता है, उसीप्रकार शुद्ध आत्मा में सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं। प्रकट हुए आत्मगुणों को देखकर शुद्धसम्पदा का पद यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

आत्मध्यान करने के लिए आत्मस्वभाव का समीचीन बोध होना आवश्यक होता है क्योंकि आत्मज्ञान के बिना आत्मध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। आत्मध्यान के ध्येयभूत आत्मज्ञान की आवश्यकता को देखकर भव्य जीवों को आत्मस्वरूप समझाने के लिए पाँच विशेषणों से आत्मा के विशिष्ट स्वरूप को इस श्लोक में व्यक्त किया गया है।

रत्नत्रय की भावना

सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानचारित्रत्रितयात्मकम् ।
तेनात्मदर्शनं नित्यं, रत्नत्रयभावनाकर्त्तव्यम् ॥२०॥

अन्वयार्थ :

(तेन) वह **(आत्मदर्शनम्)** आत्मदर्शन **(सम्यग्दर्शन)** सम्यग्दर्शन **(सज्ज्ञान)** सम्यग्ज्ञान **(चारित्र)** सम्यक्चारित्र **(त्रितयात्मकम्)** त्रितयात्मक है। **(नित्यम्)** नित्य **(रत्नत्रय)** रत्नत्रय की **(भावना)** भावना **(कर्त्तव्यम्)** करनी चाहिये।

अर्थ : आत्मा का वह दर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के भेद से त्रितयात्मक है।

आत्मा को नित्य ही रत्नत्रय की भावना करनी चाहिये।

भावार्थ : इस कारिका में व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय की भावना करने का सदुपदेश दिया गया है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द भगवन्त लिखते हैं –

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

(समयसार - १६)

अर्थात् : साधुपुरुषों को दर्शन, ज्ञान और चारित्र निरन्तर सेवन करने योग्य है और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही जानो।

भेदरत्नत्रय और अभेद रत्नत्रय की अपेक्षा से रत्नत्रय के दो भेद हैं। जब सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पृथक् पृथक् आराधना की जाती है, तब वह भेद रत्नत्रय की आराधना कहलाती है। जब यह जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप में अनुस्यूत एक आत्मद्रव्य की आराधना करता है, तब वह अभेद रत्नत्रयाराधना कही जाती है।

सराग अवस्था में अर्थात् शुभोपयोग की भूमिका में आरूढ़ जीव भेदरत्नत्रय का अवलम्बन लेता है। वीतराग निर्विकल्प समरसी भाव में तन्मय जीव भेद को विषय नहीं करता, अपितु वह अभेद को विषय

करता है। अतः वीतरागी की आराधना अभेद रत्नत्रयाराधना होती है।

आचार्य श्री ब्रह्मदत्त ने लिखा है -

यथा द्राक्षा, कर्पूर, श्रीखण्डादि बहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकभेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति।

(परमात्मप्रकाश टीका- १/९६)

अर्थात् : जिसप्रकार दाख, कपूर, चन्दन आदि अनेक द्रव्यों से बनाया गया पीने का वह रस यद्यपि अनेक रसरूप है तो भी अभेदनय से एक पानकवस्तु कही जाती है। उसीतरह शुद्धात्मानुभूति स्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुई आत्मा अनेकरूप है, तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है। यही अभेदरत्नत्रय का स्वरूप है।

आत्मा का चैतन्य गुण सम्पूर्ण परपदार्थों से भिन्न है। स्वरूपानुभूति वा पररूप से उपरति का नाम सम्यग्दर्शन है। यह निश्चयनय की अपेक्षा से लक्षण है। व्यवहारनय की अपेक्षा से देव, शास्त्र, गुरु अथवा तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आगम में कहीं-कहीं तत्त्वार्थश्रद्धान के स्थान पर पंचास्तिकाय, छह द्रव्य अथवा नौ पदार्थों के श्रद्धान को भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। इसमें केवल शब्दान्तर है, विषयान्तर नहीं ऐसा जानना चाहिये।

आत्मा चिद्रूप है, अखण्ड है, परम है, सुखस्वरूपी है ऐसा आत्मतत्त्व सम्बन्धित ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है और तत्त्वों को यथार्थ रूप से जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है।

संसार के कारणभूत ऐसे राग-द्वेष का अभाव करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध करते हुए सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप की अविचलता को प्राप्त करना अर्थात् स्वरूप का आचरण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। जो अशुभ से छुड़ाकर शुभ में स्थिर करता है, उस आचरण विशेष को व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते हैं। समिति, गुप्ति, अणुव्रत, महाव्रत और शीलव्रतादि रूप आचरण व्यवहार

सम्यक्चारित्र की श्रेणि में आते हैं।

जो अपनी-अपनी जाति में उत्कृष्ट होता है, उसे उस-उस जाति का रत्न कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्न की संज्ञा दी गई है क्योंकि मोक्षमार्ग में इन तीनों का महत्त्व अचिंत्य है। आत्मा रत्नत्रयात्मक होने से त्रितयात्मक है। वह रत्नत्रय आत्ममय है। अतः अभेदापेक्षया आत्मा एक ही है।

नयों की चर्चा करने पर संग्रहनय से आत्मा एक है और व्यवहारनय से आत्मा त्रितयात्मक है अथवा निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा एक है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा त्रितयात्मक है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है –

सम्मदंसणणाणंचरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइयो णिओ अप्पा।।

(द्रव्यसंग्रह - ३९)

अर्थात् : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उसको मोक्ष का कारण जानो।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का स्पष्ट उद्घोष है –

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।

(समयसार - ७)

अर्थात् : ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन भाव व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चयनय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है। अतएव वह शुद्ध है।

व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय को जानकर तथा अनाग्रहता पूर्वक उन दोनों का अनुसरण करके ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। अतः प्रत्येक आत्मकल्याणेच्छु जीव को नियमित रूप से रत्नत्रय की भावना करनी चाहिये।

पाँच ज्ञान

मतिश्रुतावधिश्चेति, मनःपर्यय केवलम् ।
ज्ञानात्मा मुक्तिरित्युक्तं, पञ्चादि परमेष्ठिनाम् ॥२१॥

अन्वयार्थ :
(मति) मति **(श्रुत)** श्रुत **(अवधि)** अवधि **(मनःपर्यय)** मनःपर्यय **(च)** और **(केवलम्)** केवल **(इति)** इसप्रकार **(ज्ञान)** ज्ञानरूप **(आत्मा)** आत्मा **(मुक्तिः)** मुक्ति है। **(इति)** ऐसा **(पञ्चादि)** पंच **(परमेष्ठिनाम्)** परमेष्ठियों का **(उक्तम्)** कथन है!

अर्थ : मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इसप्रकार पाँच ज्ञान हैं। ज्ञान ही आत्मा है। आत्मा का ज्ञानस्वरूप रह जाना ही मोक्ष है ऐसा पाँचों परमेष्ठियों ने कहा है।

भावार्थ : ज्ञान आत्मा का प्रमुख गुण है। अनन्तगुणों में ज्ञान को ही प्रधानता क्यों दी गई है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मैंने अपनी कृति में लिखा है –

यह जनरीति लोकविश्रुत है कि किसी एक प्रधान विशेषता को विलोककर उसी नाम से व्यक्ति को सम्बोधित करे। जैसे कोई शास्त्र पढ़ता हो, तो उसे पण्डित कहना। उस व्यक्ति में पण्डिताई को छोड़कर अन्य भी कई विशेषताएं हैं, किन्तु पाण्डित्य उन सबका प्रतिनिधित्व करता है। उसीप्रकार आत्मा में अनन्तगुण विराजमान हैं। उन सभी गुणों में ज्ञानगुण नायक है। ज्ञान का व्यवहार प्रकट रूप से अनुभूत है। अनन्त पदार्थों के समुदाय रूप इस महाविश्व में ज्ञान से ही आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध है। जगत के निगूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन मात्र ज्ञान के द्वारा ही संभव है। ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है। ज्ञान के बिना संसार में आत्मसंज्ञक की कल्पना ही व्यर्थ है। इसलिए ही समयसार जैसे परमागमों में महर्षि कुन्दकुन्द

देव ने आत्मा को ज्ञान मात्र कहा है।

(ए बे-लगाम के घोड़े! सावधान - ७२-७३)

ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का है।

शंका : आगमग्रंथों में ज्ञान के पाँच नहीं, आठ भेद माने हैं।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥

(द्रव्यसंग्रह - ५)

अर्थात् : कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार के ज्ञान हैं। उनके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद भी हैं।

फिर यहाँ पाँच ही भेद क्यों किये गये ?

समाधान : जहाँ सामान्यज्ञान की चर्चा चलेगी, वहाँ ज्ञान के आठ भेद मानने पड़ेंगे, क्योंकि मिथ्याज्ञान भी ज्ञानरूप ही है। परन्तु जहाँ मोक्षमार्ग की चर्चा होगी, वहाँ पाँच भेद ही स्वीकार करने होंगे, क्योंकि मिथ्याज्ञान में मोक्षमार्गत्व का अभाव है। यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से समीचीन पाँच ज्ञानों का ही उल्लेख किया गया है।

***१-- मतिज्ञान* :** जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। सामान्यतया इसके चार भेद हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विशेषरूप से इसके तीन सौ छत्तीस भेद हैं। यथा- अवग्रह दो तरह का है, अर्थ और व्यंजन। अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये, पाँच इन्द्रिय और मन इन छह के द्वारा बारह पदार्थों को (एक, एकविध, बहु, बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, ध्रुव, अध्रुव, उक्त और अनुक्त इन बारह पदार्थों को) मतिज्ञान जानता है। अतः चारों के (१२, ६ = ७२) बहत्तर, बहत्तर भेद हुए। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर चार इन्द्रियों के द्वारा बारह पदार्थों को जानता है। उसके अड़तालीस (१२x ४ = ४८) भेद हुए। कुल मिलाकर तीन सौ छत्तीस (७२ + ७२ + ७२ + ७२ + ४८= ३३६) भेद हुए।

२-- श्रुतज्ञान : मतिज्ञान ने जाने हुए पदार्थों को जो विशेषरूप से जानता है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद हैं - अंगबाह्य और अंगप्रविष्ठ। अंगबाह्य अनेक प्रकार का है तथा अंगप्रविष्ठ के आचारांग आदि बारह भेद हैं।

३-- अवधिज्ञान : अव उपसर्ग पूर्वक धा धातु से कर्मादिसाधन में कि प्रत्यय लगने पर अवधि शब्द बनता है। जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थों को जानता है वह अवधिज्ञान है। जो ज्ञान अधिकतर नीचे के विषय को जाने वह अवधिज्ञान है। अथवा, जो परिमित क्षेत्रगत विषय को विषय करे वह अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दो भेद हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को ही लब्धिनिमित्तज अवधिज्ञान कहते हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी और अननुगामी के भेद से छह प्रकार का है। अन्यप्रकार से देशावधि, सर्वावधि और परमावधि के भेद से अवधिज्ञान के तीन प्रकार हैं।

४-- मनःपर्ययज्ञान : मन की प्रतीति को लेकर अथवा मन का प्रतिसंधान करके जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मनःपर्यय ज्ञान है। जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से परमनोगत विचारों को जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है। यह ज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। ऋजुमति मनपर्ययज्ञान के तीन और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के छह भेद हैं।

५-- केवलज्ञान : जो ज्ञान सब द्रव्यों को उनके समस्त गुण व त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत् जानता है वह केवलज्ञान है। क्षायोपशमिक आदि इन्द्रियजन्य ज्ञानों की सहायता से रहित ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। अथवा, जिसके लिए मन,वचन और काय के आश्रय से बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्रकार के तप तपे जाते हैं, वह केवलज्ञान है।

ज्ञान के ये पाँच भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं, क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है जो एक ही है। अतएव ग्रंथकार का उपदेश है कि भेदकल्पना सापेक्ष इन पाँच ज्ञानों से उपयोग को हटाकर जो योगी अपने उपयोग को सहज ज्ञानरूप निज आत्मतत्त्व में अन्तर्लीन करता है, वह योगी अनन्तसुख के आलय स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

चैत्यभक्ति

देहं चैत्यालयं प्राहुर्देही चैत्यं तथोच्यते।
तद्भक्तिश्चैत्यभक्तिश्च, प्रशस्या भववर्जिता॥२२॥

अन्वयार्थ :
(देहम्) देह को **(चैत्यालयम्)** चैत्यालय **(प्राहुः)** कहा है **(तथा)** तथा **(देही)** देही को **(चैत्यम्)** चैत्य **(उच्यते)** कहते हैं **(च)** और **(तद्भक्तिः)** उसकी भक्ति **(चैत्यभक्तिः)** चैत्यभक्ति है। वह **(प्रशस्या)** प्रशस्त है और **(भववर्जिता)** भवहीन करती है।

अर्थ : देह चैत्यालय है और देही चैत्य है। उसकी भक्ति ही चैत्यभक्ति कहलाती है।

वह भक्ति प्रशस्त है तथा भव से पार कराने वाली है।

भावार्थ : चैत्य जिनेन्द्र की प्रतिमा को कहते हैं। **चैत्यस्य आलयः चैत्यालयः** चैत्य की जहाँ स्थापना की जाती है, वह चैत्यालय कहा जाता है। जिनमन्दिर चैत्यालय है।

व्यवहारनय की विवक्षा से जिनेन्द्रबिम्ब तथा उनके आलयों को वंदना करना, स्तुति करना तथा भक्ति करना चैत्यभक्ति है।

निश्चयनय परद्रव्यनिरपेक्ष होता है। वह स्व-गुण और पर्यायों से अनुस्यूत एक अखण्ड द्रव्य का ग्राहक होता है। उस नय की विवक्षा से आत्मा ही चैत्य है। वह आत्मा वर्तमान में इस शरीर में विराजमान है, अतः शरीर ही चैत्यालय है। आत्मचैत्य की निश्चल प्रतीति, संवेदना एवं अनुभूतिरूप अभेदरत्नत्रय ही निश्चय से चैत्यभक्ति है।

निश्चयभक्ति का स्वरूप विवेचित करते हुए आचार्य श्री पद्मप्रभ मलधारी देव लिखते हैं -

निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रय परिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः।

(नियमसार)

अर्थात् : निज परमात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्बोध और सम्यगाचरणरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामों का भजन भक्ति है।

निश्चय चैत्यभक्ति के लिए ग्रंथकार ने दो विशेषण दिये हैं।

अ. परम प्रशंसनीय : जिस पुरुष के द्वारा एकाध उपकार किया जाता है, जीव उसकी सतत प्रशंसा करता है। भक्ति तो समस्त आत्मगुणों से साक्षात्कार कराती है,अतएव उसे ग्रंथकार ने परम प्रशंसनीय कहा है।

ब. भवसंतारक : जब आत्मा अपने स्वत्व को भूल गया तो वह राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोहादि भावों में उलझ गया। उन वैभाविक भावों से कर्मों का आगमन हुआ। आगन्तुक कर्मों ने आत्मा के साथ रहने की स्थिति जब पूर्ण की, तब वे कर्म उदयगत हुए। उदयीभूत कर्म आत्मा को सुख-दुःख रूप फल देते हैं। कर्मफल भोगते हुए आत्मा पुनः वैभाविक परिणति करता है। इसतरह आत्मा अनादिकाल से अद्यावधि पर्यंत संसार सागर में उन्मज्जन-निमज्जन करता रहा।

जब निश्चयभक्ति प्रकट होती है, तो भ्रान्ति मिट जाती है। आत्मा सत्स्वरूपसे परिचित हो जाती है, उसे इस सच्चाई का ज्ञान हो जाता है कि -

यथासौ चेष्टते स्थाणौ, निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ, विनिवृत्तात्मविभ्रमः।।

(समाधिशतक - २२)

अर्थात् : जिसप्रकार स्थाणु ही पुरुष है, ऐसे आग्रह से ज्ञानी जीव मुक्त हो जाता है, वैसे ही मैं देहादि से भिन्न हूँ ऐसा बोध मुझे हो गया है।

निश्चयभक्ति के सद्भाव में भी उदयगत कर्म राग-द्वेष उत्पन्न नहीं कर पाते, वे निर्जीर्ण हो जाते हैं। आत्मरमण के प्रतिफलस्वरूप उत्पन्न हुई परम ध्यानरूपी अग्नि कर्म के वन को जला देती है। कर्म नष्ट हो जाने पर आत्मा शुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतः भक्ति को भवसंतारक कहा गया है।

इसतरह चैत्य और चैत्यालय इन दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानकर देह से विविक्त, चैतन्य के आलय शुध्दात्मा के दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान से आत्मशुद्धि

यथा च काञ्चनं शुध्दं, दग्ध्वा पिण्डस्य बन्धनम् ।
जीवोऽपि हि तथाभूतं, सम्यग्ज्ञानेन शुध्द्यति ॥२३॥

अन्वयार्थ :

(यथा) जैसे **(काञ्चनम्)** सुवर्ण **(पिण्डस्य)** पिण्ड के **(बन्धनम्)** बन्धन को **(दग्ध्वा)** जलाकर **(शुद्धम्)** शुद्ध **(अभूतम्)** हो जाता है **(तथा)** वैसे ही **(हि)** नियम से **(जीवः)** जीव **(अपि)** भी **(सम्यग्ज्ञानेन)** सम्यग्ज्ञान से **(शुद्ध्यति)** शुद्ध होता है

अर्थ : जैसे सुवर्ण अपने साथ लगे हुए बन्धन को जलाकर शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार आत्मा भी सम्यग्ज्ञान से शुद्ध होता है।

विशेष : कारिका में प्रयुक्त च शब्द पादपूर्ति का हेतु है।

भावार्थ : इस कारिका में सम्यग्ज्ञान का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है। सम्यग्ज्ञान को परिभाषित करते हुए महर्षि समन्तभद्र लिखते हैं -

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद, यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार - ४२)

अर्थात् : **जो न्यूनाधिकता से रहित हो, यथार्थ स्वरूप हो, विपरीततादि दोषों से रहित हो तथा सन्देह से रहित हो उसे आगमियों ने सम्यग्ज्ञान कहा है।**

जैनागम में सम्यग्ज्ञान को आत्मा के समस्त गुणों का नायक माना है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का निजगुण है। अन्य मतावलम्बी ज्ञान और आत्मा का समवाय सम्बन्ध है ऐसा मानते हैं। जैनागम उसे उस रूप में स्वीकार नहीं करता। ज्ञान व आत्मा का तादात्म सम्बन्ध है, अतः वह आत्मा का स्थायी स्वभाव है।

निजगुण या स्वभाव उसे कहा जाता है कि जो सदैव अपने गुणी के आश्रय से रहता है। आत्मद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों में ज्ञानगुण

नहीं पाया जाता। आत्मा कभी भी ज्ञान गुण से रहित नहीं रहता।

आगम में आत्मा के स्वरूप की जितनी भी चर्चा की जाती है, उसका मूल (केन्द्रस्थान) ज्ञान ही होता है। ज्ञान के आधार पर ही शेष गुणों की चर्चा की जाती है। आत्मा क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसकी उपलब्धि के उपाय कौन से हैं ? आदि अनेक शंकाओं का समाधान ज्ञान के द्वारा ही संभव है। आत्मा यद्यपि अनन्त गुणों का सागर है, तथापि उन समस्त गुणों का परिचय बिना ज्ञान के संभव नहीं है।

ज्ञान ही आत्मसाधनारूप चारित्र का प्राण है। हेयोपादेय का ज्ञान होने पर ही आत्मा अहितकर वस्तुओं का त्याग व हितकारी वस्तुओं को ग्रहण कर चारित्र का अनुपालन कर सकता है। तप का महल ज्ञान के आधार पर ही खड़ा रहता है। जीवन के सम्यक् विकास में ज्ञान ही प्रमुख कारण है।

आगमग्रंथों में ज्ञान के समीचीन और मिथ्या यह दो भेद किये हैं। संशय, विमोह, विभ्रम से सहित ज्ञान मिथ्या तथा उससे विपरीत ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए पण्डित दौलतराम जी लिखते हैं -

जे पूरब शिव गये जांहि अब आगे जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहैं हैं।।
विषय चाह दव दाह जगत जन अरनि दझावे।
तासु उपाय न आन ज्ञान घनघान बुझावे।।

(छहढाला ४/५)

अर्थात् : जो जीव आजतक भूतकाल में मोक्ष गये हैं, भविष्यकाल में मोक्ष जायेंगें और वर्तमानकाल में मोक्ष जा रहे हैं वे सब सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से ही मोक्ष को प्राप्त हो रहे हैं।

विषयों की इच्छारूपी दावानल में सारा संसार जल रहा है। उस दावानल को बुझाने का एकमात्र उपाय सम्यग्ज्ञान ही है।

सम्यग्ज्ञान का महत्त्व अपरंपार है। जिस मिथ्याज्ञानरूपी महान अन्धकार को ज्योतिपुंज चन्द्रमा और सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकते, ऐसे दुर्भेद्य मिथ्यान्धकार को सम्यग्ज्ञान क्षणार्द्ध में ही नष्ट कर देता है।

सम्यग्ज्ञान से युक्त अल्पचारित्र या अल्पतप भी महाफल देने में सक्षम हो जाते हैं, इसके विपरीत ज्ञान से हीन चारित्र और तप तो विषकणिका से युक्त भोजन की भाँति आत्मघातक है। ज्ञानरूपी अमृत से अभिसिंचित आत्मतत्त्व ही मोक्षलक्ष्मी का वरण करने में सक्षम हो पाता है। विषय, कषाय और मोहोद्रेकरूपी रोग को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञान से बढ़ कर कोई औषधि नहीं है।

जैसे हंस मानसरोवर के तटपर ही क्रीड़ा करते हैं, उसीप्रकार सम्पूर्ण गुण-यश और सिध्दियों रूपी हंस ज्ञानसरोवर के तटपर ही क्रीड़ारत रहते हैं।

आचार्य अमितगति लिखते है कि –

ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्ती।
रत्नत्रये संचित कर्ममोक्षः।।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चै
स्तेनात्र यत्नं विदधाति दक्षः।।

(सुभाषितरत्नसंदोह - ८/५)

अर्थात् : प्राणी ज्ञान से अपने हित को जानता है, उससे उसकी रत्नत्रय में प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति उसके संचित कर्मों का नाश कर देती है। उससे निर्बाध महान सुख प्राप्त होता है। इसलिए चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करते हैं।

कुशल स्वर्णकार के हाथों में पहुँचा हुआ स्वर्ण अग्नि के संसर्ग को पाकर सम्पूर्ण किट्टकालिमा से रहित शुद्ध हो जाता है, उसीतरह तप रूपी स्वर्णकार आत्मारूपी स्वर्ण को ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा कर्म-कलंकों से मुक्त करा देता है।

रत्नत्रय में सम्यग्ज्ञान को दूसरे क्रमांक पर लिया गया है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन का कार्य और चारित्र का कारण है। द्वितीय होते हुए भी वह अद्वितीय है क्योंकि मोक्षमार्ग का बोध हुए बिना उसपर श्रद्धान नहीं होता तथा बोध के बिना आचरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

शास्त्र - गुरु और मोक्ष का लक्षण

आचार्य श्री सुविधिसा

प्रपञ्चरहितं शास्त्रं, प्रपञ्चरहितो गुरुः।
प्रपञ्चरहितो मोक्षो, दृश्यते जिनशासने ॥२४॥

अन्वयार्थ :

(शास्त्रम्) शास्त्र **(प्रपञ्चरहितम्)** प्रपंच से रहित है। **(गुरुः)** गुरु **(प्रपञ्चरहितः)** प्रपंच से रहित है। **(मोक्षः)** मोक्ष **(प्रपञ्चरहितः)** प्रपंच से रहित है ऐसा **(जिनशासने)** जिनशासन में **(दृश्यते)** देखा जाता है।

अर्थ : जिनशासन में शास्त्र, गुरु और मोक्ष प्रपंच से रहित होते हैं ।

भावार्थ : प्रपंच अनेकार्थक शब्द है। लोक में इसके प्रदर्शन, फैलाव, स्पष्टीकरण, विशदव्याख्या, विविधता, दृश्यवस्तु, ढेर अथवा माया इत्यादिक अर्थ रूढ़ हैं ।

इस कारिका में प्रपंच शब्द तीन बार प्रयोग में आया है। तीनों ही स्थान पर इसके भिन्न भिन्न अर्थ ग्रहण किये गये हैं। यथा-

१. पूर्वापर विरोध अथवा प्रमाण से बाधित।
२. मायाचार अथवा आरंभ-परिग्रह।
३. भोगोपभोग का विस्तार।

अ. प्रपंच से रहित शास्त्र : शास्त्र का समीचीन लक्षण करते हुए आचार्य श्री पूज्यपाद लिखते हैं –

पूर्वापरविरोधादि दूरं हिंसाद्यपासनम् ।
प्रामाणद्वयं संवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम् ।।

(पूज्यपाद श्रावकाचार-७)

अर्थात् : जो पूर्वापर के विरोध से रहित है, हिंसादि पापों से छुड़ाने वाला है, प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों को कहने वाला है और सर्वज्ञभाषित है वह शास्त्र है।

ग्रंथकार का कथन है कि जैनशास्त्र पूर्वापरविरोध से रहित है।

जिनमें सर्वज्ञता नहीं हैं, जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, जो अज्ञानतिमिराछन्न हैं, जो राग, द्वेष, मोह के द्वारा ग्रसित हैं, ऐसे कुमत के प्रवर्तकों के द्वारा प्ररूपित सिध्दान्तों में परस्पर विरुद्ध अनेक मान्यतायें हैं। आचार्य समन्तभद्र ऐसे मतावलम्बियों को स्वपरवैरी कहते हैं। बौद्धों के मतानुसार आत्मा क्षणिक है, फिर भी वे प्रव्रज्यादि अनुष्ठानों को व भवभवान्तर को स्वीकार करते हैं। एक बार सुगत भिक्षार्थ जा रहे थे, उनके पैर में काँटा गड़ गया। उससमय उन्होंने कहा कि –

इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः।।

अर्थात् : हे भिक्षुओ ! आज से इक्यानवें कल्प में मैंने शक्ति (छुरी) से एक पुरुष का वध किया था। उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैरों में काँटा लगा है।

जब आत्मा क्षणिक है, तो इक्यानवें भव किसने लिये ? नहीं है, तो फिर क्षणिकवाद का मानना कहाँ तक उचित है ?

सांख्य मतानुयायी द्रव्य को नित्य मानते हैं। जब आत्मा नित्य है, तो पापी नित्य पापी व पुण्यात्मा नित्य पुण्यात्मा रहेगा। संसारी नित्य संसारी और सिद्ध नित्य सिद्ध ही रहेगें। यदि ऐसा है तो पापियों का उद्धार व ईश्वर का अवतार ये जो दो मान्यताएँ उनमें हैं, वे सिद्ध नहीं होती। यदि उन दो बातों को स्वीकार किया जायेगा, तो नित्यत्व बाधित हो जायेगा।

३. चार्वाक मतानुयायी आत्मसत्ता को अस्वीकार करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे सदाचार के उपदेश देते हैं। जब परभव है ही नहीं, तो फिर सदाचार के उपदेश का प्रयोजन क्या रहा ? इस प्रश्न पर वे अनुत्तरित हो जाते हैं।

ऐसे अनेकों मत व उनकी परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ हैं, जिन्हें ग्रंथ का आकार बढ़ने के भय से नहीं कहा जाता है। इस विषय को जानने के इच्छुक लोग धर्मपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करें।

जैनागम पूर्व और अपर के विरोध से रहित है, अतः वही प्रपंच

रहित शास्त्र है।

२. प्रपंच से रहित गुरु – गुरु का स्वरूप बताते हुए आचार्य श्री शिवकोटि कहते हैं -

दिगम्बरो निरारम्भो, नित्यानन्दपदार्थिनः।
धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः।।

(रत्नमाला - २८)

अर्थात् : जो दिगम्बर हैं, निरारम्भ हैं, नित्यानन्द पद के इच्छुक हैं, जो धर्म को बढ़ाने वाले हैं, जो कर्म को जलाने वाले हैं वे साधु हैं ऐसा बुधजनों ने कहा है।

दिगम्बर साधु आडम्बर से विहीन, पाखण्ड से हीन, कषायों से उपरत, ज्ञान तथा ध्यान में तत्पर एवं आत्मतत्त्व की भावना में रत रहते हैं। इसलिए वे प्रपंच से रहित हैं। इससे विपरीत अन्यभेषी साधु महन्तपने का भाव रखने वाले, विषयाशा से संसक्त, एकान्ताग्रह से रक्त, आरम्भ-परिग्रह से सम्पन्न, आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से हीन, पाखण्ड के पिटारे एवं मलिन चित्तवाले होते हैं।

३. प्रपंच से रहित मोक्ष - आचार्य श्री उमास्वामी लिखते हैं कि –

बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः।

(तत्त्वार्थसूत्र - १०/२)

अर्थात् : बन्ध हेतुओं का अभाव होनेपर और सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होकर कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही मोक्ष है।

अन्य मतावलम्बी सिद्धों का कुछ काल बाद संसार में पुनः आना मानते हैं। जैनशासन की मान्यता है कि दग्ध बीज जैसे अंकुरोत्पत्ति नहीं करा सकता, उसीप्रकार ही बन्धहेतुओं का अभाव हो जाने पर पुनः संसार में आगमन नहीं होता। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्ष में इन्द्रिय सुखों की बहुलता है। जैनशासन का कथन है कि सिद्धों को अर्थात् मोक्षस्थ जीवों को अव्याबाध सुख तो होता है, परन्तु वह सुख इन्द्रियजन्य या पराधीन नहीं है।

जिनशासन का कथन निर्भ्रान्त है, अतः जिनशासन द्वारा प्ररूपित मोक्ष प्रपंच से रहित है। इसप्रकार शास्त्र, गुरु और धर्म आदि के समीचीन रूप को जानकर श्रद्धान करना चाहिये।

ध्यान का महत्त्व

नास्ति ध्यानसमो बन्धुर्नास्ति ध्यानसमो गुरुः।
नास्ति ध्यानसमं मित्रं, नास्ति ध्यानसमं तपः॥ २५॥

अन्वयार्थ :

(ध्यान) ध्यान के **(समः)** समान **(बन्धुः)** बन्धु **(नास्ति)** नहीं है। **(ध्यान)** ध्यान के **(समः)** समान **(गुरुः)** गुरु **(नास्ति)** नहीं है। **(ध्यान)** ध्यान के **(समम्)** समान **(मित्रम्)** मित्र **(नास्ति)** नहीं है। **(ध्यान)** ध्यान के **(समम्)** समान **(तपः)** तप **(नास्ति)** नहीं है।

अर्थ : ध्यान के समान बन्धु, गुरु, मित्र और तप नहीं है।

भावार्थ : इस कारिका में ध्यान का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है।

अ – ध्यान के समान बन्धु नहीं है – बन्धुजन सतत मनुष्य का हित चाहते हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जावे, तो समस्त बन्धुजन बन्धन के मूल हैं क्योंकि वे आत्मा के हित में बाधक हैं। ध्यान आत्मा का सर्वतोमुखेन हित करता है। सच्चे बन्धु व्यक्ति के गुणों का पोषण करते हैं और दोषों को दूर करने में सहयोग प्रदान करते हैं। बन्धुओं के समान ही ध्यान भी दोषों का अपहरण और गुणों का वर्धन करता है। अतः ध्यान ही परम बन्धु है।

ब – ध्यान के समान गुरु नहीं है – गुरु शब्द की अनेक तरह से व्युत्पत्तियाँ होती हैं।

१. **गृणातीतिः गुरुः –** गुरु धातु निगरण यानि निकालने के अर्थ में है, अतः जो अन्दर से कुछ निकाल देवे वह गुरु है। ध्यान ध्याता के मन से सारे तामसिक भावों को निकाल देता है अतः वह गुरु है।

२. **गुकारस्तमसि प्रोक्तो, रुकारस्तन्निरोधकः** - गुकार अन्धकार अर्थ में है और रुकार उसका निरोधक है। अर्थात् जो अन्धकार का निवर्तन करे वह गुरु है। ध्यान ज्ञानावरणीय कर्म के द्वारा उत्पन्न अन्धकार का निवारण करता है अतः ध्यान गुरु है।

३. गुरु शब्द का लैटिन रूपान्तरण ग्रैविस है। इसीसे गुरुत्वाकर्षण शब्द

बना है। अतः गुरु यानि भारी। ध्यान की महिमा अन्य सभी तपों में भारी है और ध्यान का फल भी अन्य तपों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतः ध्यान सच्चा गुरु है।

४. गृह् धातु का आवाज देना यह भी एक अर्थ है। जो शिष्य को स्वात्मज्ञान प्राप्ति हेतु आवाज दे वही गुरु है। ध्यान यह कार्य करता है, अतः ध्यान ही सम्यग्गुरु है।

ग्रंथकार कहते हैं कि ध्यान के समान गुरु नहीं है।

५. ध्यान के समान मित्र नहीं है – एक सच्चा मित्र सतत अपने मित्र को प्रसन्न करने का, उसको कापथ से बचाने का तथा उसके दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। ध्यान आत्मा को स्वात्मानन्द देकर प्रसन्न करता है, उसको संसारमार्गरूपी कापथ से बचाने का तथा उसके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूपी दोषों को दूर करता है। अतः ध्यान के समान मित्र नहीं है।

६. ध्यान के समान तप नहीं है – पण्डितप्रवर आशाधर जी ने लिखा है –

तपो मनोऽक्षकायाणां, तपनात्सन्निरोधनात् ।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम् ।।
यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्तपो नियमक्रिया।।

(अनगारधर्मामृत - ७/२-३)

अर्थात् : **मन, इन्द्रियाँ और शरीर के तपने से अर्थात् इनका सम्यक् रूप से निवारण करने तथा रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए इच्छा का निरोध करने को तप कहते हैं।**

रत्नत्रयरूप मार्ग में किसी प्रकार की हानि न पहुँचाते हुए शुभाशुभ कर्मों का विनाश करने के लिए जो तपा जाता है अर्थात् इन्द्रिय व मन को तपाया जाता है वह तप है।

रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में शुभाशुभ कर्मों का नाश करने के लिए ध्यान में मन को एकाग्र किया जाता है और इन्द्रियों का संयमन किया जाता है। मन के रुक जाने से इच्छाओं का निरोध स्वयमेव हो जाता

है। अतः ध्यान के समान तप नहीं है।

ध्यान पूर्वकृत् पापों का प्रतिक्रमण है। ध्यान के द्वारा वर्तमान में भविष्यकालीन दोषों का प्रत्याख्यान किया जाता है, अतः ध्यान ही प्रायश्चित्त तप है। ध्यान आत्मा को आत्मा के निकट ले जाता है, अतः ध्यान ही विनय **है ।** (विशेषरूपेण नयतीति विनयः। **अर्थात् - आत्मा को जो विशेषरूप से मोक्ष की ओर ले जावे वह विनय है।)** गुणानुराग पूर्वक सेवा करना वैयावृत्ति है। ध्यान आत्मा की सच्ची सेवा है, अतः ध्यान ही वैयावृत्ति तप है। स्वतत्त्व का अध्ययन करना स्वाध्याय है। ध्यान के द्वारा आत्मा स्वतत्त्व का अन्वेषण करता है, अतः ध्यान ही स्वाध्याय तप है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्गतप है। ध्यान सम्पूर्ण परिग्रहों को दूर करता है, अतः वही व्युत्सर्ग तप है।

चारों प्रकार के आहार का त्यागरूप अनशन, भूख से कम खानेरूप अवमौदर्य, नियमपूर्वक भोजन करने रूप वृत्तिपरिसंख्यान, छह रसों के परित्याग रूप रसपरित्याग ये चारों तप ध्यान के समय में विकल्पों से हीन प्रवृत्ति के कारण स्वयमेव फलप्रद हो जाते हैं। एकान्त में शय्या और आसन विविक्तशय्यासन है। ध्यान के समय में आत्मा परकृत विकल्पों से तथा पर के सम्बन्ध से विविक्त होता है। अतः विविक्तशय्यासन तप भी स्वयमेव घटित हो जाता है।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी का निर्भ्रान्त कथन है -

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ।।

(इष्टोपदेश - १९)

अर्थात् : जो कार्य जीव के लिए उपकारी होते हैं, वे कार्य नियम से शरीर के लिए अपकारी होते हैं।

ध्यान जीव का उपकार करता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि ध्यान के कारण शरीर को क्लेश होता है। अतः ध्यान के द्वारा कायक्लेश तप की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि ध्यान के समान अन्य कोई तप नहीं है क्योंकि ध्यान की सिद्धि होने पर शेष ग्यारह तप स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं।

परमात्मा के भेद

परात्मा द्विविधः प्रोक्तः, सकलो निष्कलस्तथा।
सकलोऽर्हत्स्वरूपो हि, सिद्धो निष्कल उच्यते ॥२६॥

अन्वयार्थ :

(सकलः) सकल **(तथा)** तथा **(निष्कलः)** निष्कल **(द्विविधः)** दो प्रकार का **(परात्मा)** परमात्मा **(प्रोक्तः)** कहा है **(हि)** निश्चय से **(अर्हत्स्वरूपः)** अरिहन्त परमेष्ठी **(सकलः)** सकल परमात्मा है **(सिद्धः)** सिद्धों को **(निष्कलः)** निकल परमात्मा **(उच्यते)** कहते है।

अर्थ : परमात्मा सकल और निकल के भेद से दो प्रकार के हैं। अरिहन्तों को सकल तथा सिद्धों को निकल परमात्मा कहते हैं।

भावार्थ : जब यह जीव अभेद रत्नत्रय की साधना करता है, तब क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ होकर समस्त कर्मों का विनाश करता हुआ अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

परमश्चासौ आत्मा परमात्मा – परम है जो आत्मा, वह है परमात्मा।

पण्डित प्रवर आशाधर ने लिखा है -

परमः अनाध्येयाप्रहेयातिशयत्वात्सकल संसारि जीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा।

(इष्टोपदेश टीका-१)

अर्थात् : जो अनाध्येय, अप्रहेय अतिशय के कारण सम्पूर्ण संसारी जीवों में उत्कृष्ट हैं वे चैतन्यात्मा परमात्मा हैं।

परमात्मा के दो भेद हैं - सकल परमात्मा और निकल परमात्मा।

१. सकल परमात्मा – आचार्य श्री प्रभाचन्द्र लिखते हैं -

सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः। चासावात्मा सकल परमात्मा।

अर्थात् - कल यानि शरीर से जो युक्त है वह सकल है। सकल है आत्मा जो, वह सकल परमात्मा है।

अरिहन्त परमेष्ठी सकल परमात्मा हैं।

२. **निकल परमात्मा - निर्गतः कलो यस्य सः निकलः।** जिसका शरीर नष्ट हो चुका है वह निकल हैं।

आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारी देव लिखते हैं -

निश्चयेनौदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकर्माणाभिधानशरीर पञ्चाभावान्निकलः।

(नियमसार)

अर्थात् : निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पाँच शरीर का अभाव हो जाने से वे निकल हैं।

सिद्ध परमेष्ठी निकल परमात्मा हैं।

पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने लिखा है -

सकल निकल परमातम द्वैविध, तिनमें घाति निवारी।
श्री अरिहन्त सकल परमातम, लोकालोक निहारी।।
ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल, वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगें शर्म अनन्ता।।

(छहढाला - ३/५-६)

अर्थात् : सकल और निकल के भेद से परमात्मा दो प्रकार के हैं। उनमें से घातिकर्म का विनाश करने वाले, लोक और अलोक को जानने तथा देखने वाले श्री अरिहन्त परमेष्ठी सकल परमात्मा हैं। जिनका ज्ञान ही शरीर है, जो तीनों प्रकार के कर्मरूपी मैल से रहित हैं, जो मोक्ष के अविनाशी सुख का उपभोग कर रहे हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी निकल परमात्मा हैं।

यद्यपि व्यवहार नय से तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव सकल परमात्मा व गुणस्थानातीत लोकाग्रशिखर पर स्थानापन्न सिद्ध परमेष्ठी निकल परमात्मा हैं। ये दोनों ही परमात्मा आराधना करने हेतु ध्येयभूत हैं, तथापि निश्चयनय से मेरा शुद्धात्मा ही उपासनीय है ऐसा जानना चाहिये ।

ध्यान का फल

श्रुयते ध्यानयोगेन, सम्प्राप्तं पदमव्ययम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, कुर्याद् ध्यानं बुधोत्तमः ॥ २७॥

अन्वयार्थ :

(ध्यानयोगेन) ध्यानयोग से **(अव्ययम्)** अव्यय **(पदम्)** पद को **(सम्प्राप्तम्)** प्राप्त करता है ऐसा **(श्रुयते)** सुना जाता है। **(तस्मात्)** इसलिए **(सर्व)** सम्पूर्ण **(प्रयत्नेन)** प्रयत्न से **(बुधोत्तमः)** बुद्धिमानों में भी उत्तम पुरुष **(ध्यानम्)** ध्यान **(कुर्यात्)** करे।

अर्थ : ध्यान के योग से ही जीव अव्यय पद को प्राप्त करता है ऐसा सुना जाता है। इसलिए बुध्दिमान जीवों को प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ : ध्यान का अर्थ है निज शुद्धात्मा का अवलोकन। ध्यान राग-द्वेष और मोह की भीड़ से तनहा होने का एक सुन्दर विज्ञान है। ध्यान पर से मुक्ति और स्व-में रममाण होने की जीवन्त प्रक्रिया है। ध्यान दृष्टा-पन की प्राप्ति का प्रथम चरण है।

आर्षग्रन्थों में ऐसा उपदेश पाया जाता है कि मनुष्यलोक से प्रत्येक छह माह और आठ समयों में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं। अनादिकाल से अद्यावधि पर्यन्त अनन्तानन्त जीव मोक्ष गये हैं तथा आगे भी जाते रहेंगे। वे सब कर्मक्षपणार्थ ध्यानतप का अवलम्बन लेते हैं। यही कारण है कि ध्यान का महत्त्व बताते हुए जैनाचार्यों ने जैनागम के अनेक पृष्ठ भर दिये हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने लिखा है -

अप्पसरूवालंबण भावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं।।

(नियमसार - ११९)

अर्थात् : आत्मस्वरूप के अवलम्बनरूप भाव से यह जीव सम्पूर्ण

परभावों का परिहार करने में समर्थ हो जाता है इसलिए ध्यान ही सर्वस्व है।

गौतम गणधर स्वामी स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं -

जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोयम।
सारं झाणं ति णामेण, सव्वं बुध्देहिं देसिदं।।

(बृहत् प्रतिक्रमण)

अर्थात् : जो सम्पूर्ण सारों में सार स्वरूप है, हे गौतम! वह सार ध्यान नाम से है; ऐसा सभी बुद्धिमानों ने कहा है।

ध्यान क्या है ?

ध्यान अपने आप में उतरने का अभियान है।

देह क्या है ? देह के पार क्या है ? इसतरह का भेदविज्ञान ध्यान के द्वारा ही होता है। अन्तस्तत्त्व का स्वरूप क्या है ? उसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है ? इन शंकाओं का समाधान ध्यान है। निज का अन्वेषण करने के लिए की जाने वाली यात्रा का शुभारंभ ध्यान है। आत्मानुभव के आनन्द को उपलब्ध करने के लिए, परमात्मा की पुलक को जीवित करने के लिए अपनी गहराई नापना ध्यान है।

अध्यात्म के बीज अंकुरित करने के लिए ध्यान ही उत्तम उर्वरा भूमि है। ध्यान मन को सतत जागरुक रखता है। अतः ध्यान से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। ध्यान से परख की दृष्टि विकसित होती है। ध्यान आत्मबल की वृद्धि करने वाली महा औषधि है। ध्यान एक ऐसा दीपक है कि जो अन्तर के आलोक को प्रकाशित करता है। ध्यान एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसके नीचे बैठकर आत्मा, आत्मानन्द के इच्छित महाफल को प्राप्त करता है। ध्यान जीवन से अभिमुख होकर जीने का मार्ग है। ध्यान से ही आत्मा का दर्शन होता है। ध्यान साधक की प्राणशक्ति को उर्ध्वगामी बनाता है। ध्यान मन को प्रतिक्रिया रहित बनाकर सत्य में जीने की कला सिखाता है।

ध्यान मन को वर्तमान में जीना सिखाता है, वर्तमान अतीत एवं भविष्य की विरोधाभासी तलहटियों का शिखर है परन्तु मन वर्तमान में ठहर नहीं पाता। वह या तो भूतकाल की स्मृतियों को संजोता है अथवा भविष्यकाल की कल्पनाओं के ताने-बाने बुनता रहता है। इन दोनों

दशाओं में मनुष्य के हाथ में कुछ भी नहीं आ पाता प्रत्युत वह दुःख का पात्र ही बनता है और मिलने वाले वर्तमानकालिक अवसर को भी गवाँ बैठता है। ध्यान के द्वारा ध्याता अतीत और अनागत से अपना सम्बन्ध समाप्त कर लेता है। फलतः ध्याता का राग-द्वेष क्षीण होने लगता है। यही कारण है कि ध्याता शान्त तथा शक्तिसंपन्न हो जाता है।

यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाये, तो मनोरोगों का मूल कारण राग और द्वेषमयी विभाव परिणति है। मन की चंचल उठापटक मनोरोगों को उत्पन्न करती है। ध्यान राग-द्वेष को विनष्ट करता है। अतः ध्यान मनोरोगों को रोकने की आधारशिला है।

वर्तमान वैज्ञानिकों का मानना है कि शरीर में कुछ चैतन्यकेन्द्र हैं। जीवन का सम्पूर्ण विकास चैतन्यकेन्द्रों में निहित है और ध्यान उन चैतन्यकेन्द्रों को जागृत करने में समर्थ है। अतः ध्यान के द्वारा जीवन का समग्र विकास होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि विभाव भाव हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिए कंटक के समान हैं। ध्यान विगत में किये गये दोषों का विशोधन करता है। अतः ध्यान ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। ध्यान से काय का ममत्व स्वयमेव विसर्जित हो जाता है। इसलिए ध्यान ही श्रेष्ठ कायोत्सर्ग है। ध्यान में राग-द्वेष का विलय हो जाता है। उसके फलस्वरूप आस्रव और बन्ध नहीं होता तथा संवर और निर्जरा होती है। अतः ध्यान ही मोक्षमार्ग है।

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने लिखा है -

इष्टानिष्टार्थ मोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात्तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ।।

(अनगारधर्मामृत - १/११४)

अर्थात् : इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोहादि को नष्ट करने से चित्त स्थिर होता है । उससे ध्यान होता है। ध्यान से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है । रत्नत्रय से मोक्ष होता है और मोक्ष में जाने से सुख की प्राप्ति होती है।

ध्यान के ऐसे अचिन्त्य माहात्म्य को जानकर बुद्धिमान पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे ध्यान में लीन हो जायें ताकि अव्यय पद को प्राप्त किया जा सके।

योगियों का तत्त्व

पक्षपातविनिर्मुक्तं, लाभालाभविवर्जितम् ।

माया मनः परित्यक्त्वं, तत्त्वं भवति योगिनः ॥२८॥

अन्वयार्थ :

(पक्षपात) पक्षपात से **(विनिर्मुक्तम्)** रहित **(लाभालाभ)** लाभ और अलाभ से ***(विवर्जितम्)*** रहित है। ***(मनः)*** मन को ***(माया)*** माया ***(परित्यक्त्वम्)*** विरहित किया है ऐसा ***(योगिनः)*** योगियों का **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(भवति)** होता है।

अर्थ : योगी का तत्त्व पक्षपात से, लाभ और अलाभ के विकल्प से तथा मायाचार से रहित होता है।

भावार्थ : योगी की परिभाषा करते हुए मुनि पद्मसिंह जी ने लिखा है

कन्दर्पदर्पदलनो दम्भविहीनो विमुक्तव्यापारः।

उग्रतपो दीप्तगात्रः योगी विज्ञेय परमार्थः।।

(ज्ञानसार - ४)

अर्थात् : जिसने कन्दर्प के दर्प का दलन किया है, जो दम्भ विहीन है, जो मन, वचन, कायकृत व्यापार से मुक्त है, जो उग्रतपस्वी है, जो दीप्तगात्री है वह परमार्थ से योगी है ऐसा तुम जानो।

योगियों में अनेक गुण होते हैं। ग्रंथकर्ता ने इस कारिका मे तीन गुणों का उल्लेख किया है। यथा-

१. पक्षपातविनिर्मुक्त : पक्षपात का अर्थ होता है किसी एक की तरफदारी करना, किसी वस्तु के लिए मन में अत्यन्त प्रेम होना, किसी एक पक्ष से लगाव होना। योगी किसी से राग अथवा द्वेष नहीं करते। अतः वे पक्षपातविमुक्त कहलाते हैं। योगी सत्यार्थी होते हैं। सत्य ही उनका पक्ष होता है। अनेकान्त के उपासक होने के कारण वे एकान्तग्राही नहीं होते हैं। सत्य को प्राप्त करने के लिए वे समस्त पक्षों का त्याग करते हैं, क्योंकि पक्षपात अन्धत्व का निर्माता होता है यह तथ्य उन्हें

सदैव स्मरण में रहता है। सत्य व पक्ष में महान अन्तर होता है। यथा

क्र.	सत्य	क्र.	पक्ष
१.	समता को बढ़ाता है।	१.	राग-द्वेष को बढ़ाता है।
२.	अनेकान्त का पक्षधर है।	२.	एकान्त का उपासक है।
३.	अनाग्रही होता है।	३.	आग्रही होता है।
४.	शाश्वत व सम्यक् है।	४.	मिथ्या है।
५.	मध्यस्थ है।	५.	कलह का बीज है।

पक्षपाती सत्य और असत्य के विवेक से विहीन होता है, जबकि योगी महाविवेक सम्पन्न होते हैं। अतः वे पक्षपातविनिर्मुक्त कहलाते हैं।

२. *लाभालाभविवर्जित* : लाभ और अलाभ सब कर्माश्रित है। जब लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है, तो जीव को धन-धान्यादि इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इससे विपरीत जब लाभान्तराय कर्म का उदय होता है, तो जीव को इष्ट वस्तुओं का लाभ नहीं होता। लाभ और अलाभ की इन विषम स्थितियों में योगी हर्ष-विषादादि नहीं करता, अपितु कर्मों का उदय-अनुदय समझकर समचित्तवान हो जाता है। अतः वह लाभालाभविवर्जित है।

३. *मायापरित्यक्त* : माया के अवास्तविकता और कपट ये दो अर्थ हैं। जब माया का अर्थ अवास्तविकता करते हैं, तो मायापरित्यक्त का अर्थ होगा आरम्भ और परिग्रह से हीन। मुनि असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य के द्वारा हिंसा के कारणभूत ऐसे आरंभ नहीं करते हैं तथा चौदह आभ्यन्तर परिग्रह व दस बाह्य परिग्रह इन चौबीस परिग्रहों से वे रहित हो चुके हैं।

अवास्तविकता का दूसरा अर्थ धोखाधड़ी या जालसाजी होता है। योगीगण इन्द्रजालादि क्रियाएँ नहीं करते इसलिए वे मायापरित्यक्त हैं। माया का अर्थ जब कपट किया जायेगा, तो मायापरित्यक्त शब्द का अर्थ होगा कपट से रहित वृत्ति वाले। **स्वहृदयप्रच्छादनार्थमनुष्ठानं माया।** अपने मन के विचारों को छिपाने का नाम माया है। योगी उससे पूर्णतया मुक्त होता है। योगी जानते हैं कि माया दुर्गति का (तिर्यंचगति का) कारण होता है। अतः मुनि अपने मन को पूर्ण निर्मल बनाते हैं।

योगियों की स्थिति

गर्भिणी च यथा नारी, पश्मत्यन्तःस्थसत्त्वकम् ।
एवं योगी स्व-देहस्थं स्वं पश्येद् रेचकादिभिः ॥२१॥

अन्वयार्थ :

(यथा) जैसे **(गर्भिणी)** गर्भवती **(नारी)** स्त्री **(अन्तःस्थ)** अपने भीतर के **(सत्वकम्)** शिशु को **(पश्मति)** देखती है **(एवं)** उसीप्रकार **(योगी)** योगी **(स्वदेहस्थम्)** शरीर में स्थित **(स्वम्)** स्व को **(रेचकादिभिः)** रेचकादि के द्वारा **(पश्येत्)** देखें।

अर्थ : जैसे गर्भवती स्त्री सतत अपने उदरस्थ शिशु का ध्यान रखती है, उसीप्रकार योगी स्व-देह में अपनी आत्मा को रेचकादिक के द्वारा देखता है।

विशेष :

१. च शब्द श्लोक में पादपूर्ति हेतु आया है।

२. मेरे विचारानुसार गाथा में आया पश्मति शब्द अशुद्ध है, उसके स्थानपर पश्यति होना चाहिये।

भावार्थ : जननी उदर वस्यो नव मास मनुष्यगति में सर्वप्रथम अवस्था गर्भावस्था है। नौ माह तक जीव माता के गर्भ में निवास करता है। माता के क्रियाकलापों का असर शिशु पर पूर्णतः पड़ता है। माता के आचार-विचारों को शिशु आत्मसात् कर लेता है। यह बात अब वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार –

१. यदि गर्भवती माता शृंगार में व्यस्त रहती है, तो उत्पन्न होने वाला शिशु चर्मरोगी होता है।

२. यदि गर्भवती स्त्री रतिक्रीड़ा में अत्यधिक रुचि लेती है, तो उसका होने वाला शिशु व्यभिचारी अथवा नपुंसक होगा।

३. यदि गर्भवती स्त्री दौड़ती है, तो शिशु अपंग होगा।

४. यदि गर्भवती महिला उत्तेजक दृश्य को बार-बार देखती है, तो उसका

शिशु अंधा और भीरु होगा।

५. यदि गर्भवती हँसमुख, सदाचारिणी और धार्मिक है, तो उससे उत्पन्न होने वाला शिशु स्वस्थ, सुन्दर, प्रसन्नमना तथा सदाचारि बनता है।

सुशिक्षित नारी इस बात से पूर्ण परिचित होती है, अतः वह स्वस्थ शिशु की प्राप्ति हेतु निरंतर सजग रहती है। अथवा –

दौड़ना, तैरना, जोर से बोलना, भय-उत्पन्न करने वाले दृश्य देखना आदि कार्यों से गर्भपात होने की संभावना होती है। ऐसी दुर्घटना न हो, एतदर्थ माता सतत प्रयत्नशील रहती है।

गर्भ में शिशु अधोमुखी होता है। माता के द्वारा बोझ उठाना, कष्टप्रद कार्य करना, अत्यधिक घूमना इत्यादि कार्यों से शिशु को कष्ट पहुँचता है। माता सदैव यही प्रयत्न करती है कि गर्भस्थ शिशु को किसी प्रकार का कष्ट न होव।

उसीतरह योगी कुंभक, रेचक और पूरक नामक प्राणायाम को करते हुए प्रतिसमय निज चैतन्यमयी आत्मा का ध्यान रखता है।

शंका : कुंभक, पूरक और रेचक का क्या स्वरूप है ?

समाधान : आचार्य श्री शुभचन्द्र लिखते हैं –

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः।।
निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः।।
निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसन शनैः।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे।।

(ज्ञानार्णव - २६/२४ से २६)

अर्थात् : द्वादशान्त अर्थात् तालुओं के छिद्र से अथवा द्वादश अंगुल पर्यंत से खींच कर पवन को अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में ग्रहण करने को वायुविज्ञानी पण्डितों ने पूरक कहा है। उस पूरक पवन को स्थिर करके नाभिकमल के अन्दर जैसे घड़े को भरा जाता है, उसीप्रकार रोककर रखने को अर्थात् नाभि से अन्य स्थानों में वायु को न जाने देने को कुंभक कहा है। जो अपने कोष्ठ से पवन को अति प्रयत्नपूर्वक धीरे-

धीरे बाहर निकालता है, उसको पवनाभ्यास का वर्णन करने वाले शास्त्रों में विद्वानों ने रेचक ऐसा कहा है।

जैनधर्म शास्त्रानुसार प्राणायामरूप यह वायुनियन्त्रण बहुत आवश्यक तत्त्व नहीं है। संयमी को वांछापूर्वक प्राणायाम करने की आवश्यकता नहीं है। प्राणायाम तो उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाता है।

ज्ञानार्णव में तो स्पष्ट ही प्राणायाम को आर्त्तध्यान का कारण माना है। आचार्य श्री शुभचन्द्र लिखते हैं –

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसंभवः।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्ष्यतः।।

(ज्ञानार्णव - २७/९)

अर्थात् : प्राणायाम में प्राणों का आयमन अर्थात् रोकने से पीड़ा होती है। उस पीड़ा से आर्त्तध्यान होता है और उस आर्त्तध्यान से तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं।

यही कारण है कि जैनागम में प्राणायाम जैसी बाह्यक्रियाओं पर अधिक जोर नहीं दिया गया है।

शंका - जैनागम में प्राणायाम को आर्तध्यान का कारण माना है, यह बात पहले लिखे हुए प्रमाण से स्पष्ट हो जाती है। फिर इस ग्रंथ में रेचकादि प्राणायामों का उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान - प्राथमिक शिष्य को ध्यान की सिद्धि के लिए और मन को एकाग्र करने के लिए प्राणायाम आलम्बनस्वरूप है।

आचार्य श्री शुभचन्द्र जी ने लिखा है -

स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद् वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते।।

(ज्ञानार्णव - २९/१४)

अर्थात् – प्राणायाम करने वालों के मन इतने स्थिर हो जाते हैं कि उनको जग का वृत्तान्त प्रत्यक्ष दिखने लगता है।

मन को एकाग्र करने के लिए ही इस ग्रंथ में प्राणायाम का उपदेश दिया गया है। जब प्राणायाम पर विशेष बल दिया जायेगा तो वह आर्त्तध्यान का कारण बनेगा, अन्यथा नहीं।

आत्मचिन्तन का फल

न जापेन न होमेन नाक्षसूत्रस्य धारणात् ।
प्राप्यते तत्परं तत्त्वं प्राप्यं त्वात्मविचिन्तनात् ॥३०॥

अन्वयार्थ :
(तत्) वह **(परम्)** परम **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(न)** न **(जापेन)** जाप से **(न)** न **(होमेन)** होम से **(न)** न **(अक्षसूत्रस्य)** अक्षसूत्र के (रूद्राक्ष आदि की माला) **(धारणात्)** धारण करने से **(प्राप्यम्)** प्राप्त होता है **(तु)** निश्चय से वह **(आत्मविचिन्तनात्)** आत्मचिन्तन से **(प्राप्यम्)** प्राप्त होता है

अर्थ : वह परम तत्त्व जाप, होम या अक्षसूत्र के धारण करने से प्राप्त नहीं होता।

उसकी प्राप्ति आत्मचिन्तन से ही होती है।

भावार्थ : ध्यान अवस्था है, क्रिया नहीं। ध्यान के लिए जितनी भी क्रियाएँ कही गयी हैं वे सब ध्यान का साधन हैं। साधन और साध्य के मध्य का अन्तर न समझ पाने के कारण अनेक अनर्थ हो रहे हैं।

भारत में ध्यान पर अनेकानेक मत-मतान्तर बन चुके हैं। उन्होंने अपनी मान्यताओं के प्रचार हेतु अनेक प्रकार के ग्रंथ रच लिये हैं। अपने द्वारा कल्पित विधि को वे परमात्म तत्त्वोपलब्धि का एकमात्र कारण घोषित करते हैं। ध्यान अन्तस् का विषय है, अतः बाह्य से उसके सत्यपने अथवा मिथ्यापने का बोध नहीं होता, फलस्वरूप साधक भटक जाता है।

कल्पित ध्यानग्रंथों ने साधक को भाँति-भाँति ललचाने का प्रयत्न किया है, जिसके कारण साधकगण सत्य से विमुख हो जाते हैं। जहाँ सत्य नहीं, वहाँ आनन्द कहाँ ? यही कारण है कि उनकी ध्यान साधना पत्थर पर बोये बीज की तरह व्यर्थ हो जाती है।

वर्तमान में ध्यान के नाम पर सम्मोहन के प्रयोग हो रहे हैं, जो क्षण दो क्षण साधक को भरमाते हैं । जब साधक वास्तविकता के धरातल पर उतर आता है, तब वह अपने को वहीं पाता है, जहाँ वह

पहले था। उसमें कोई प्रगति घटित नहीं होती। इसतरह के अपायों से भव्यों की रक्षा करने हेतु ग्रंथकार निषेध को प्रकट किया जा रहा है।

ग्रंथकार कहते हैं कि आत्मतत्त्व जाप्य से, होम से अथवा अक्षसूत्र की धारणा से प्राप्त नहीं होता।

शंका : पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थम इस कारिका में ग्रंथकार ने स्वयं जाप का उपदेश दिया ह, यहाँ वे उसका खण्डन कर रहे हैं। क्या यह वचनविघात नहीं है ?

समाधान : उपदेश प्रासंगिक होते हैं। उपदेश सुनने वाले पात्रों में भेद होने के कारण उपदेश पद्धति में अन्तर आता है। उपदेश पद्धति में पाये जाने वाले अन्तर को वचनविघात नहीं कहते हैं। सर्वज्ञप्रणीत ग्रंथों में जाप्यानुष्ठान का जो प्रकरण आया है उसके दो प्रयोजन हैं -

१. पूज्य पुरुषों का भक्तिपूर्वक स्मरण करना, तथा
२. मन को एकाग्र करना।

अनेक गुणों के पुंज ऐसे पंचपरमेष्ठी आत्मा के विशोधक होने से हमारे आराध्य हैं। हमें संसार परिभ्रमण को तज कर आत्मस्थ होना है। इस पथ पर निर्विघ्नतया बढ़ने के लिए हमारे समक्ष परमेष्ठी आदर्श के रूप में हैं, अतएव उनका स्मरण किया जाता है।

मन अत्यन्त चंचल है। अनेक विषयों में मंड़राने वाले मन को उन विषयों से विमुख करके आत्मतत्त्व का (अध्यात्म पथ का) पथिक बनाने के लिए जाप्य सहयोगी बनते हैं। इसलिए ध्याता जाप करता है। मन की एकाग्रता के निमित्त को ही ध्यान का स्वरूप मानना, मार्ग को ही मंजिल मान लेने के समान मूढत्व का ग्रंथकार ने निषेध किया है।

देवयज्ञ को होम कहते हैं अर्थात् यज्ञकुण्ड में मन्त्रपूर्वक जो समिधा की आहूति दी जाती हैं उसे होम कहते हैं। उस होम के द्वारा भी आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं होता। अक्ष रूद्राक्ष को कहते हैं। अतः अक्षसूत्र का अर्थ रूद्राक्षादिक की माला। अन्य मतावलम्बी जीव तुलसी, रूद्राक्ष, चंदन आदि की मालाओं को पहनकर ऐसा मानते हैं कि सम्पूर्ण पाप स्वयमेव माला के प्रभाव से नष्ट हो जायेंगे व आत्मा शुद्ध हो जायेगा। ग्रंथकार कहते हैं कि अक्षसूत्र के धारण करने से भी आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती।

प्रभात और अन्धकार

प्रभातं योगिनो नित्यं, ज्ञानादित्यो हृदि-स्थितः।
इतरेषां नराणां च, न प्रभातं कदाचन ॥३१॥

अन्वयार्थ :
(हृदि) हृदय में **(ज्ञानादित्यः)** ज्ञानरूपी सूर्य **(स्थितः)** स्थित है ऐसे **(योगिनः)** योगियों के लिए **(नित्यम्)** नित्य **(प्रभातम्)** प्रभात है **(च)** और **(इतरेषाम्)** इतर **(नराणाम्)** मनुष्यों को **(प्रभातम्)** प्रभात **(कदाचन)** कभी भी **(न)** नहीं है।

अर्थ : योगियों के हृदय में ज्ञानसूर्य दैदीप्यमान है, अतः उनके लिए नित्य ही प्रभात है। अन्य व्यक्तियों के लिए कभी भी प्रभात नहीं है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद ज्ञान की आराधना करनी चाहिये। स्व और पर पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करने के लिए सम्यग्ज्ञान सूर्य के समान है।

जैसे सूर्य अपनी सहस्र रश्मियों के माध्यम से जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार ज्ञान भी अपनी कलाओं के माध्यम से प्रत्यक्ष और परोक्षभूत पदार्थों को प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है।

दोषा यानि रात्रि। जैसे सूर्य दोषाच्छेदक है, वैसे ही ज्ञान भी मोहादि का उच्चाटन करता है। अतः ज्ञान भी दोषाच्छेदक है।

जैसे सूर्य तम का समूलोच्छेद करता है, उसीप्रकार ज्ञान भी तम अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मों का समूलोच्छेद करता है।

जैसे सूर्योदय होने पर लोग निद्रा को तज देते हैं, उसीप्रकार ज्ञान का सूर्योदय होने पर ज्ञानी जीव मोहनिद्रा को तज देते हैं।

जैसे सूर्योदय होने पर मार्ग स्पष्टतया दिखने लगता है, उसीप्रकार ज्ञानादित्य का उदय होने पर मोक्षमार्ग स्पष्टतया दिखने लगता है।

जैसे सूर्य कमलों को विकसित करता है, उसीप्रकार ज्ञान आत्मा के श्रद्धा, तप, चारित्रादि सद्गुणों को विकसित करता है।

जैसे सूर्य का प्रकाश मनुष्यों के मन को चमत्कृत कर देता है, उसीप्रकार ज्ञान का प्रकाश मनुष्य के मन में चमत्कार उत्पन्न करता है।

जिसप्रकार सूर्य जिस नभोमण्डल में प्रकाशित होता है, उस नभोमण्डल के महत्व का विकास करता है, उसीप्रकार ज्ञानरूपी सूर्य जिस आत्मा में उदित होता है, उस आत्मा की ख्याति को वह लोकविश्रुत कर देता है।

जैसे सूर्य की स्तुति समस्त जगज्जन करते हैं, उसीप्रकार समस्त आत्मार्थी ज्ञानरूपी सूर्य की स्तुति - उपासनादि करते हैं।

जैसे नानाविध नक्षत्रों में सूर्य प्रधान है, उसीप्रकार समस्त आत्मगुणों में ज्ञान प्रधान गुण है।

यदि सूर्य और ज्ञान में तुलना की जाये तो ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है क्योंकि उस सूर्य को राहु ग्रस लेता है, बादल आच्छादित करता है तथा सायंकाल में सूर्य अस्त हो जाता है जब कि ज्ञानरूपी सूर्य एकबार उदित हो जाने पर उसे विभावों का राहु और कर्मों के बादल आच्छादित नहीं कर पाते। ज्ञानरूपी सूर्य का कभी अस्त नहीं होता।

ज्ञान आत्मा की अपूर्व शक्ति है। इसके व्दारा ही आत्मा अपने हित का अन्वेषण कर सकता है । ज्ञान के बिना साधना अपंग है । साधना की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि ज्ञान के बिना संभव नहीं है ।

आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्द के अनुसार तो प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और ध्यान आदि समस्त चारित्रिक कार्य ज्ञान ही है । आत्मज्ञान के अभाव में किया गया सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान व्यर्थ है ।

जिन जीवों के पास आत्मज्ञान नहीं है उन्हें हिताहित का विवेक नहीं होता, वे अपनी कषायों का उपशमन नहीं कर पाते, उनकी विषयाभिलाषा शमन को प्राप्त नहीं होती, उनके मन में दिव्य विचारों का जन्म ही नहीं होता। उनके जीवन में सदा अन्धःकार ही रहता है। इसलिए उनके जीवन में कभी प्रभात नहीं होता।

योगीजन निरन्तर ज्ञान में स्थित रहते हैं। ज्ञान ही उनका भोजन है और ज्ञान ही उनका भजन है । ज्ञान के अतिरिक्त वे कुछ चाहते भी नहीं है । ज्ञान ही उनकी साधना का साधन और ज्ञान ही उनका साध्य होता है । अतः उनके जीवन में सदैव प्रभात है ।

ध्यान की सफलता

देहाज्जीवं पृथक् कृत्वा, चिन्तयेद्विचक्षणः।
देहस्यैव च देहित्वे, ध्यानं तत्र विनिष्फलम् ॥३२॥

अन्वयार्थ :
(विचक्षणः) बुद्धिमान **(देहात्)** देह से **(जीवम्)** जीव को **(पृथक्)** अलग **(कृत्वा)** करके **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करे **(च)** और **(तत्)** उस **(देहस्य)** देह को **(एव)** ही जो **(देहित्वे)** आत्मा मानता **है (तत्र)** वहाँ **(ध्यानम्)** ध्यान **(विनिष्फलम्)** निष्फल है।

अर्थ : बुद्धिमान मनुष्य देह से जीव को अलग करके चिन्तन करे क्योंकि देह ही जीव है, ऐसा मानने वाले जीव का ध्यान निष्फल है।

भावार्थ : आत्मा और शरीर में निम्नलिखित अन्तर हैं।

क्र.	आत्मा	शरीर
१.	चेतन है।	पौद्गलिक है।
२.	अत्यन्त निर्मल है	अशुचिभूत है।
३.	अविनश्वर है।	प्रतिक्षण नश्वर है।
४.	ज्यों का त्यों बना रहता है।	सतत क्षरणशील है।
५.	आधेय है।	आधार है।
६.	द्रव्य है।	विभाव व्यंजनपर्याय है।
७.	अनन्त गुणों का पिण्ड है।	नवद्वारों का पिंजरा है।
८.	एक अखण्ड व शुद्ध द्रव्य है।	जीव की सप्तधातुओं से विनिर्मित अशुद्ध पर्याय है।
९.	आनन्दालय है।	शौचालय के समान है।
१०.	अनेक गुणों से युक्त है।	दोषों का समूह है।
११.	स्वद्रव्य है।	परद्रव्य है।

इस अन्तर का बोध न होने के कारण मूढात्मा देह-देही के एकत्व के भ्रम को मन में बसा लेते हैं। यही भ्रम दुःख का कारण है।

संसार के मानसिक, वाचनिक एवं कायिक दुःखों का मूल कारण देह ही है। अतः देह के ममत्व को त्यागना चाहिये,

आचार्य श्री पूज्यपाद लिखते हैं -

मूलं संसारदुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः।

(समाधिशतक - १५)

अर्थात् : इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के समस्त दुःखों का कारण है। इसीलिए शरीर में आत्मत्व की मिथ्याकल्पना से निवृत्त होकर बाह्य विषयों से इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकता हुआ अन्तरंग में अर्थात् आत्मा में प्रवेश करे।

शंका : देह ही देही है, ऐसा मानने में क्या दोष है ?

समाधान : देह ही देही है, ऐसी , एकान्त मान्यता जीव और अजीव तत्त्वविषयक विपरीत श्रद्धान है। **अतत्त्वश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्**। अतत्त्व का श्रद्धान मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन अनन्त संसार का कारण है। अतएव देह और देही की एकत्वरूप मान्यता संसार का कारण है।

देह रूपी है, आत्मा अरूपी है। जब दोनों ही द्रव्य परस्पर विपरीत है, तो वे एक कैसे हो सकते हैं ? अतः देह और आत्मा को एक मानना परम अज्ञान है।

देह ही आत्मा है , ऐसी मान्यता जैन मतानुयायी नहीं अपितु चार्वाक मतावलम्बी रखते है। जैन लोग शरीर और आत्मा को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानते हैं।

देह और आत्मा को सर्वथा एक मानने पर देह का आत्मा से वियोग होने पर आत्मा का नाश मानना पड़ेगा। आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता है। आत्मा का विनाश मानने पर पाप-पुण्य, धर्म- अधर्म, पूर्वभव के संस्कार, जातिस्मरण, सदाचार और विविध प्रकार के तपानुष्ठान आदि सबके अनर्थकारी ठहरने का प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से बाधित है। अतः शरीर और आत्मा को एक नहीं मानना चाहिये।

स्वयं ग्रंथकार के शब्दों में जो देह को ही जीव मानता है, उसका ध्यान करना निष्फल है।

ब्रह्मनिष्ठकों की दशा

आत्मकर्मपरित्यज्य,परदृष्टिं विशोधयेत् ।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परचिन्तया॥३३॥

अन्वयार्थ :

(आत्मकर्म) आत्मकर्म को अर्थात् भावकर्म को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(परदृष्टिम्)** परदृष्टि को **(विशोधयेत्)** विशुद्ध करना चाहिये। **(ब्रह्मनिष्ठानाम्)** ब्रह्मनिष्ठ **(यतीनाम्)** यतियों को **(तया)** उस **(परचिन्तया)** परचिन्ता से **(किम्)** क्या प्रयोजन है ?

अर्थ : आत्मकर्म को छोड़कर परदृष्टि को विशुद्ध करना चाहिये। ब्रह्मनिष्ठक यतियों को पर की चिन्ता से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ : आत्मा अनेक शक्तियों का पिण्ड है। उनमें एक वैभाविक शक्ति है। **स्वभावादन्यथा भवनं विभावः** (आप्तपरीक्षा) स्वभाव से अन्यथा होना विभाव है। जिस शक्ति के निमित्त से आत्मा में विभावभाव होते हैं, उसे वैभाविकशक्ति कहते हैं।जैसे विद्युत् के संसर्ग से हीटर गर्मी और कूलर शीत को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार विभावपरिणति के कारण इष्ट में राग व अनिष्ट में द्वेष उत्पन्न होता है। इन विभावों को ही परमागम में भावकर्म कहते हैं। वे आत्मोपयोग का विभावरूप में परिणमन होने के कारण आत्मा के हैं ऐसा अशुद्धनिश्चयनय कहता है।

इस कारिका में भावकर्मों को ही आत्मकर्म कहा गया है।

आत्मकर्मपरित्यज्य – (आत्मकर्म को छोड़कर) इष्टानिष्ट पदार्थों में की गई राग और द्वेषमय प्रवृत्ति आत्मा को निज स्वभाव से दूर हटाती है। निज परिणति से दूर हटना ही कर्म के बन्ध का कारण है। ये आत्मकर्म आत्मा को चिद्रूप से विद्रूप करने वाले हैं। अतएव अध्यात्मपथ के पथिक को इनका त्याग करना अत्यावश्यक है।

परदृष्टिं विशोधयेत् – (परदृष्टि को विशुद्ध करें) मिथ्यात्वकर्म के तीव्र उदय से व ज्ञानावरण कर्म के उदय का निमित्त

पाकर उत्पन्न हुए अज्ञान नामक औदायिक भाव के सद्भाव से अनादिकाल से आजतक यह जीव पर पदार्थों के प्रति भ्रान्ति रूप कल्पनाओ को संजोता रहा है। वह अपने आपको परद्रव्यों का स्वामी, कर्ता या भोक्ता मानता है।

यथा -

१. मैं दृष्यमान और अदृष्यमान सम्पूर्ण परपदार्थों का स्वामी हूँ।
२. मैं दृष्यमान और अदृष्यमान सम्पूर्ण परपदार्थों का कर्त्ता हूँ।
३. मैं दृष्यमान और अदृष्यमान सम्पूर्ण परपदार्थों का भोक्ता हूँ।
४. मैं परद्रव्य का तथा परद्रव्य मेरा भला अथवा बुरा कर सकता है।
५. पाँच प्रकार के शरीर मेरे हैं। शरीर से भिन्न मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है।

वस्तुतः ये सब मान्यताएँ विपरीत होने से आत्मघाती हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं हो सकता। होगा भी कैसे ? प्रत्येक द्रव्य अपनी उपादानशक्ति से परिणमन करता है। यदि कोई अन्य द्रव्य उसका परिणमन करायेगा, तो उपादान अन्य द्रव्य बन जायेगा। परिणमनकारी द्रव्य में उपादानशक्ति न होने से उसका वस्तुत्व गुण नष्ट हो जायेगा। वस्तुत्व गुण के नष्ट हो जाने से अस्तित्वगुण नष्ट हो जायेगा। इसतरह द्रव्य का नाश हो जायेगा। ऐसा होने पर विश्व के नाश का प्रसंग आयेगा। इस अनर्थ से बचने के लिए किसी द्रव्य का भला या बुरा कोई द्रव्य नहीं कर सकता ऐसा मानना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य अपने ही अनन्त गुण और पर्यायों के कर्त्ता होते हैं।

शंका : यदि ऐसा मान लिया जाये तो धर्मद्रव्य का गति, अधर्मद्रव्य का स्थिति, आकाशद्रव्य का अवकाशदान, कालद्रव्य का परिणमनकरण और पुद्गल द्रव्य का सुख - दुःख, जीवन-मरण, शरीर-वचन, मन और श्वासोच्छ्वास आदि जीव के प्रति उपकार होते हैं, इस अर्थ को प्रदर्शित करने वाले प्राचीन आचार्यों के मत असत्य की कोटि में आ जायेंगे।

समाधान : ऐसा नहीं मानना चाहिये। आचार्य तीर्थंकर वाणी के प्रसारक, अनेकान्त के प्रेमी तथा पापभीरु होते हैं। कहीं जिनवाणी की प्ररूपणा में स्खलन न हो जाये, इसके लिए वे सतत सजग रहते हैं। अतः उनके

वचनों को तीर्थंकर की वाणी के समान सत्यतत्त्वप्ररूपक मानना चाहिये। जैनतत्त्वमीमांसा का आधार नयपद्धति है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को नयों की विवक्षा को समझ लेना चाहिये ताकि आचार्यों के मन्तव्य सहज रूप से समझ में आ सके।

धर्माधर्मादि द्रव्य जीव और पुद्गल को बलात् गतिस्थित्यादि नहीं कराते। जब जीव और पुद्गल निज उपादान से गमन करते हैं, तब धर्मद्रव्य उनकी गति में सहकारी कारण बनता है। जब जीव और पुद्गल निज उपादान के कारण ठहरते हैं, तो उनके ठहरने में अधर्मद्रव्य सहकारी कारण बन जाता है। जब जीवादि द्रव्य निज उपादान से अवकाश पाने लग जाये, तो आकाश अवकाशदान का सहकारी कारण बनता है। जब अपनी उपादान शक्ति के कारण जीवादि द्रव्य परिणमन करते हैं, तो कालद्रव्य उनके परिणमन में सहयोगी बन जाता है। जब जीव विभाव भाव धारण करता है, उसकी विभाव व्यंजन पर्यायें अभिव्यक्त होने लगती है, तब पुद्गल निमित्त बन जाता है।

आप ही बताओ, यदि धर्मद्रव्य गति का कर्त्ता हो तो वह सिद्धों को गमन क्रिया में परिणत करा सकेगा ? अथवा, यदि पुद्गल आत्मा को शरीर प्रदान करता है तो क्या वह पुद्गल द्रव्य सिद्धों को स-शरीरी बना सकता है ? नहीं ना ! अतः यही मानना उचित है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कर्त्ता नहीं होते हैं। हाँ- द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य होता है, जिसके फल से वे परिणमन करते हुए द्रव्य के निमित्त कारण बन जाते हैं। जिन जीवों को तत्त्वबोध नहीं होता, वे जीव अनध्यवसाय के द्वारा अपने को परद्रव्यों का कर्त्ता, भोक्ता अथवा स्वामी मान लेते हैं। फलतः वे जीव स्व-द्रव्य के वैरी बन जाते हैं। वे जीव जिनेन्द्र देव के मत से बाह्य होने के कारण मिथ्यादृष्टि होते हैं।

अतः आचार्य प्रवर योगीन्द्रदेव समझाते हैं कि -

परदृष्टिं विशोध्येद् – ब्रह्म यानि आत्मा। जो ब्रह्म से निष्ठ यानि प्रामाणिक निष्ठावान या श्रद्धालु हैं, ऐसे यतिवरों ने आत्मकर्म को छोड़ दिया है, परदृष्टि को विशुद्ध कर लिया है। एतदर्थ आचार्य भगवन्त कहते हैं कि अब उन्हें परचिन्ता से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

चिन्ता के दुष्परिणाम

चिन्तया नश्यते ज्ञानं, चिन्तया नश्यते बलम् ।

चिन्तया नश्यते बुद्धिर्व्याधिर्भवति चिन्तया।।३४।।

अन्वयार्थ :

(चिन्तया) चिन्ता से **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(नश्यते)** नष्ट होता है **(चिन्तया)** चिन्ता से **(बलम्)** बल **(नश्यते)** नष्ट होता है **(चिन्तया)** चिन्ता से **(बुद्धिः)** बुद्धि **(नश्यते)** नष्ट होती है **(चिन्तया)** चिन्ता से **(व्याधिः)** व्याधि **(भवति)** होती है।

अर्थ : चिन्ता से ज्ञान, बल और बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा व्याधि होती है।

भावार्थ : चिन्ता शब्द का अंग्रेजी अनुवाद है-वरी। वरी का अर्थ गला घोटना भी होता है। अतः चिन्ता का अर्थ हुआ जिसतरह कोई कुत्ता किसी शिकार के गले को अपने दांतों से भींचता है, बार-बार झकझोरता है, उसीतरह जो जीव के साथ करे उस वृत्ति को चिन्ता कहते हैं। भय, अज्ञान, अपर्याप्त प्रयास, असमर्थता और भ्रम ये सब चिन्ता के कारण हैं। चिन्ता एक मानसिक रोग है। चिन्ता की भयंकरता को अभिव्यक्त करते हुए नीतिकारों ने लिखा हैं कि -

चिता चिन्ता समाख्याता, बिन्दूमात्र विशेषता।

चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता जीवं दहत्यहो।।

अर्थात् : चिता और चिन्ता में एक बिन्दु की ही विशेषता है। चिता तो निर्जीव शरीर का दहन करती है और चिन्ता सजीव को जलाती है।

चिन्ता का अर्थ है दुःखी होना, अनावश्यक विचार करना, अपने कल के हित के लिए आज ही सोच-विचार में (व्यर्थ) घुल जाना आदि।

चिन्तया नश्यते ज्ञानम्। **चिन्ता से ज्ञान नष्ट होता है।**

ज्ञान आत्मा का निज गुण है। जब आत्मा स्वाभिमुख होता है तब इस गुण की अभिव्यक्ति होती है। चिन्ता आत्मा की बहिर्मुखी प्रवृत्ति

है। वह केन्द्र से परिधि की ओर आत्मा को ले जाती है। उसके कारण आत्मा अपने स्वभाव को विस्मृत कर देता है। जबतक चिन्ता रहती है तबतक आत्मा स्वभावाभिमुख नहीं बन पाता। स्वभाव से दूर होने के कारण से आत्मा का ज्ञान आवृत्त हो जाता है।

परद्रव्य सम्बन्धी चिन्ता राग और द्वेष की निर्मात्री है। जहाँ राग और द्वेष होता है, वहाँ नियम से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। द्रव्यकर्म आठ प्रकार के होते हैं, जिसमें एक ज्ञानावरण नामक कर्म भी है। यह कर्म ज्ञान गुण पर आच्छादन डालता है। चिन्ता के कारण ज्ञान आवृत्त होता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर के कहा है कि -

चिन्तया नश्यते ज्ञानम् /

शंका : चिन्ता से यदि ज्ञान नष्ट होता है, तो आत्मा भी नष्ट हो जायेगा?

समाधान : ज्ञान आत्मा का परमस्वभाव है। स्वभाव का नाश हो जाने पर स्वभाव के धारक द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। द्रव्य का नाश होना तो त्रिकाल में भी संभव नहीं है। अतः यहाँ नश्यते शब्द से ज्ञान का पूर्ण उच्छेद न लेकर ज्ञान को आवृत्त करता है ऐसा अर्थ करना चाहिये।

चिन्तया नश्यते बलम् / **चिन्ता से बल नष्ट होता है।**

चिन्तित व्यक्ति जितना भी भोजन करता है, वह भोजन चिन्ता के भेट चढ़ जाता है। वह जो कुछ भी खाता है, उससे पोषक तत्त्व उत्पन्न नहीं हो पाते। यही कारण है कि चिन्ता करने वाले जीवों का शरीर शक्तिहीन हो जाता है।

बल नष्ट होने का एक और कारण है कि चिन्ता से भूख की कमी हो जाती है। फलतः चिन्तित व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर पाता जब कि चिन्ता उसके मस्तिष्क से अधिक कार्य करवाती है। उस कार्य के लिए मस्तिष्क को अत्यधिक ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। मस्तिष्क ऊर्जा शरीर से ग्रहण करने लगता है। जब शरीर को आवश्यक ऊर्जा नहीं मिल पाती, तो वह अशक्त हो जाता है।

जिसप्रकार अग्नि हरे भरे वृक्षों के समूह से युक्त महावन को क्षणभर में विनष्ट कर देती है, उसीप्रकार चिन्ता मनुष्य के ओज, तेज और बल को नष्ट कर देती है। चिन्ता आत्मविश्वास को नष्ट कर देती

है, **फलतः** कार्यशक्ति स्वयमेव ही नष्ट हो जाती है।

चिन्तया नश्यते बुद्धि। चिन्ता से बुद्धि नष्ट होती है।

चिन्ता ज्ञानतन्तुओं को उत्तेजित करती है। फलतः स्नायुमण्डल, ज्ञानवाही तन्त्रियाँ एवं कार्यवाहक नसें अपना कार्य व्यवस्थित ढंग से नहीं कर पाती। उससे बुद्धि का नाश होकर पागलपन का दौरा आने लगता है।

जिसप्रकार दीमक सुन्दर पुस्तक को चाट जाती है, उसीप्रकार चिन्ता विशाल बुद्धि को नष्ट करती है। मनोचिकित्सक ऐसा मानते हैं कि जो व्यक्ति निरन्तर चिन्ता में मग्न रहता है, उसके पागलपन की संभावनाएँ बढ़ जाती है।

डाक्टरी परीक्षणों में यह सिद्ध हुआ है कि चिन्ता सोचने-विचारने की शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर देती है।

शंका : बुद्धि और ज्ञान में क्या अन्तर है ?

समाधान - यद्यपि दोनों को एकार्थक माना गया है, तथापि यह नियम है कि **शब्दभेदे ध्रुवार्थ भेदो इति** (शब्दभेद होने पर अर्थभेद अवश्य होता है।) बुद्धि मन का कार्य है व ज्ञान आत्मा का गुण है। बुद्धि ज्ञान की ही क्षायोपशमिक अवस्था है। यह इन दोनों में प्रमुख अन्तर है।

व्याधिर्भवति चिन्तया। **चिन्ता से व्याधि होती है।**

चिन्ता तीव्र हलाहल है। जैसे हलाहल की एक बूँद भी मुख में जाने पर वह मांस को सोखती है, रक्त को विषाक्त बनाती है तथा प्राणघात करती है। उसीतरह चिन्ता का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और अन्त में प्राणों का घात हो जाता है। अतः शरीर के लिए चिन्ता तीव्र विष के समान होती है।

चिकित्साशास्त्रियों का कथन है कि चिन्ता से ग्रस्त व्यक्ति का गरम हुआ रक्त अनेक दोष उत्पन्न करता है। यथा - भूख न लगना, सिर भारी-भारी रहना, निद्रा का न आना आदि।

चिन्ता करने का परिणाम यह होता है कि -

१. चेहरा मुरझा जाता है।

२. मन उदास हो जाता है।

३. शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है।

४. कार्य करने की शक्ति का क्षरण होने लगता है।

५. स्वभाव में असहजता उत्पन्न होती है।

चिन्ताग्रस्त व्यक्ति का दिल घबराने लगता है, जिस से कभी-कभी दिल का दौरा पड़ने की संभावना बढ़ जाती है। चिकित्साशास्त्रियों का अभिमत है कि चिन्ता हृदयरोग का प्रमुख कारण है।

मानव के शरीर में **थायरॉयड** नामक एक ग्रंथि होती है। इसका स्थान कंठ में है। इसका कार्य है आवेगों तथा संवेगों पर नियन्त्रण करते रहना। इस ग्रंथि से निःसरण को प्राप्त होने वाले हारमोन्स के द्वारा ही मानवीय भावनात्मक कोषों का प्रणयन होता है। इसी ग्रंथि के द्वारा ही भावनात्मक संवेदनाओं पर या स्पन्दनों पर नियन्त्रण किया जाता है। यह ग्रंथि क्रोध, मान, माया, लोभ और भयादि मानसिक आवेगों को तीव्र, तीव्रतर या तीव्रतम अथवा मन्द, मन्दतर या मन्दतम कर सकती है। मानसिक असन्तुलन में इस ग्रंथि का बहुत महत्त्व है। चिन्ता के कारण इस ग्रन्थि के कार्यों में बाधा उपस्थित होती है। चिन्ता इस ग्रंथि में अत्यधिक चपलता का निर्माण करती है। इसकी गति विषम हो जाती है। कभी-कभी तो चिन्ता के कारण ग्रंथि अपने स्थान से च्युत हो जाती है। इसके फल से -

१. शरीर में बहुत मात्रा में उष्णता भड़कना,

२. दिल की धड़कनों का बढ़ जाना,

३. श्वास धौंकनी की तरह चलने लगना और

४. मांस, मज्जा, रक्तादि धातुओं का क्षीण होना आदि दुष्परिणाम परिलक्षित होते हैं।

चिन्ता के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों में विशेषतः निद्रानाश व सिरदर्द आदि प्रमुख रोग हैं। **एन्जीमा पेक्टोरिस** नामक महाभयंकर व्याधि का कारण चिन्ता है। इस रोग में इतनी वेदना होती है कि आदमी चीख-चीख कर बेहाल हो जाता है। इसीतरह मधुमेह, गठिया, जुकाम, उच्च रक्तचाप, उदरव्रणादि रोग चिन्ता के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि चिन्ता से व्याधि होती है।

चिन्ता के इन दुष्फलों को जानकर चिन्ता का अविलम्ब परित्याग कर देना चाहिये।

अन्यत्वभावना

अन्यच्छरीरमन्योऽहमन्ये सम्बन्धिबान्धवाः ।
एवं स्वं च परं ज्ञात्वा, स्वात्मानं भावयेत्सुधीः ॥३५॥

अन्वयार्थ :
(शरीरम्) शरीर **(अन्यत्)** अन्य है **(अहम्)** मैं **(अन्यः)** अन्य हूँ **(सम्बन्धि)** सम्बन्धिजन और **(बान्धवाः)** बन्धुजन **(अन्ये)** अन्य हैं। **(एवं)** इसप्रकार **(स्वम्)** स्व को **(च)** और **(परम्)** पर को **(ज्ञात्वा)** जानकर **(सुधीः)** बुद्धिमान **(स्वात्मानम्)** स्वात्मा की **(भावयेत्)** भावना करें।

अर्थ : मैं अन्य हूँ, यह शरीर और ये बन्धु-बान्धव अन्य हैं। इसप्रकार स्व और पर को जानकर बुद्धिमान जीव आत्मा की भावना करें।

भावार्थ : इस कारिका में अन्यत्वभावना के चिन्तन का उपदेश दिया गया है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने लिखा है -

अण्णं इमं शरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं।।

(बारसाणुवेक्खा - २३)

अर्थात् : ये शरीरादिक बाह्य द्रव्य मेरे नहीं हैं। मेरे से पृथक अन्य हैं। ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा ही मेरा है। इसप्रकार अन्यत्व भावना का चिंतवन करना चाहिये।

आत्मा शरीरादिक से भिन्न है, क्योंकि आत्मा चैतन्यमयी है और शेष द्रव्य अचेतन हैं। आत्मा की विभाव परिणति का आश्रय पाकर कर्मों का बन्ध हुआ। उदयीभूत कर्मों के फल से शरीरादि परद्रव्यों का संयोग हुआ। जिसके साथ संयोग हुआ है, उसका वियोग भी होता है। आत्मा का आत्मा से कभी वियोग नहीं होता। जिनका आत्मा से वियोग होता है, वे आत्मा के नहीं होते ।

कर्म अनादि हैं, इसलिए संयोग भी अनादिकालीन है। फिर भी

कर्म आत्मा से पृथक ही हैं। जैसा मिला हुआ दूध और पानी एक रूप प्रतिभासित होता है, उसीतरह मिला हुआ जीव और देह एक रूप प्रतिभासित होता है। परन्तु वस्तुस्वरूप का चिन्तन करने पर उनका अन्यत्व स्पष्ट हो जाता है।

पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने लिखा है -

जल पय ज्यों जिय तन मेला,
पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
ज्यों प्रकट जुदै धन धामा,
क्यों व्हैं इक मिलि सुत रामा।।

(छहढाला - ५/७)

अर्थात् : जब एक-सा प्रतिभासित होने वाला शरीर ही आत्मा का नहीं है, तब जो पदार्थ प्रत्यक्ष में ही पर हैं - ऐसे माता-पिता आदि परिवार जन अथवा मित्रादि आत्मीयजन हमारे अनन्य कैसे हो सकते हैं ?

संसारी जीवों का परस्पर सम्बन्ध कैसा है ? इसको दृष्टान्त पूर्वक समझाते हुए पूज्यपादाचार्य लिखते हैं -

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे- नगे।
स्व-स्व कार्य वशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे-प्रगे।।

(इष्टोपदेश - ९)

अर्थात् : दिशा-विदिशाओं से पक्षीगण आकर रात्रिकाल में एक वृक्ष पर ठहर जाते हैं और सुबह वे अपनी-अपनी इच्छानुसार अलग-अलग दिशाओं में उड़ जाते हैं।

उसीप्रकार कर्मजनित सम्बन्धों को यह जीव प्राप्त करता है। ये सम्बन्ध स्थायी नहीं हैं, क्योंकि समयानुसार उनमें विच्छेद भी हो जाता है। जिनसे इस जीव का तादात्म्य सम्बन्ध है, वे ही जीव के हैं।

आचार्य श्री अमितगति ने लिखा है -

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमः स्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।।

(द्वात्रिंशतिका - २६)

अर्थात् : मेरा आत्मा एक है, शाश्वत है और निर्मल ज्ञानस्वभावी है। समस्त परद्रव्य कर्म से उत्पन्न होने के कारण मुझसे पर हैं।

यह जीव संसार में अकेला आता है। उसके द्वारा पूर्व में उपार्जित किये गये कर्म ही उसके साथ आते हैं। उन्हीं के कारण जीव सुख या दुःख को प्राप्त करते हैं। कर्म के कारण प्राप्त होने वाले संयोगों अथवा वियोगों को यह जीव अपना मानकर शुभ अथवा अशुभविकल्प करता है। इन शुभाशुभ परिणामों से जीव तीव्र संक्लेशित होता हुआ पुनः घोर कर्मों को बान्धता है। इससे बचने के लिए अन्यत्वभावना का चिन्तन करते रहना साधक के लिए अति आवश्यक है।

अन्यत्वभावना का चिन्तन करते रहने से साधक को संसार की यथार्थता का बोध होता है। यह बोध उसे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में साधना के पथ से भटकने नहीं देता है। जब स्व और पर की भिन्नता का बोध हो जाता है, तब श्रद्धा की समीचीनता को बल मिलता है। इसीको ही आगमभाषा में दर्शनविशुद्धि कहते हैं। इसी दर्शनविशुद्धि के बल पर जीव तीर्थंकर जैसी परम पुनीत तथा जीवोद्धारिणी प्रकृति का बन्ध कर लेता है।

स्व और पर का यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। अन्यत्वभावना का चिन्तन करते रहने से ज्ञान में विशुद्धि आती है।

परद्रव्य के संयोग और वियोग होने पर जो राग-द्वेष की परिणति उत्पन्न होती है, वह चारित्र की विघातिका है। अतः चारित्र की शुद्धि के लिए भी अन्यत्वभावना का चिन्तन करते रहना चाहिये।

संक्षेप से अन्यत्व भावना के पाँच फल हैं। यथा -

१. स्व-पर का यथार्थ बोध होता है

२. परद्रव्यासक्ति कम होती है।

३. मोह का विलय होता है।

४. स्वात्मभावना का जागरण होता है।

५. कर्मक्षय द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

स्व-पर भेदविज्ञान को प्राप्त करके बुद्धिमान जीव निरन्तर परद्रव्य निरपेक्ष अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं।

अशुचित्वभावना

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्त निर्मल:
उभयोरन्तरं दृष्ट्वा, कस्य शौचं विधीयते।।३६।।

अन्वयार्थ :
(देहः) देह **(अत्यन्त)** अत्यन्त **(मलिनः)** मलिन है **(च)** और **(देही)** आत्मा **(अत्यन्त)** अत्यन्त **(निर्मलः)** निर्मल है। **(उभय)** दोनों में **(अन्तरम्)** अन्तर को **(दृष्ट्वा)** देखकर **(कस्य)** किसकी **(शौचम्)** शुद्धि **(विधीयते)** की जाये ?

अर्थ : देह अत्यन्त मलिन है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है। दोनों में अन्तर को देखकर किसकी शुद्धि की जाय ? किसी की भी नहीं।

भावार्थ : इस कारिका में अशुचि भावना का वर्णन किया गया है।
शरीर अशुद्ध हैं, क्योंकि -

१. शरीर की उत्पत्ति अशुद्ध पदार्थों से हुई है।

माता का रज और पिता का वीर्य, इन दो पदार्थों से शरीर की उत्पत्ति का प्रारंभ हुआ। माता के द्वारा खाये हुए अन्न की झूठन को पेट में ग्रहण कर यह पुष्ट हुआ तथा बाहर निकलने का स्थान भी माता का मूत्रस्थान था। इसतरह शरीर की उत्पत्ति अशुद्ध पदार्थों से हुई है।

आचार्य श्री शिवार्य लिखते हैं -

देहस्य सुक्क सोणिय असुई परिणामिकारणं जह्मा।
देहो वि होइ असुई अमेज्झध्दपूरवो व तदो ।।

(भगवती आराधना - १०१०)

अर्थात् : देह की उत्पत्ति का कारण महान अशुचिस्वरूप माता का रुधिर तथा पिता का वीर्य है। जैसे मलिन वस्तु से निर्मित घेवर मलिन होता है, उसीप्रकार अशुभ बीज से उत्पन्न शरीर अशुभ है।

२. शरीर में अपवित्र पदार्थ रहते हैं।

इस शरीर में एक अंजुलि प्रमाण मेद नामक धातु है, उतना ही

शुक्र है, तीन अंजुलि प्रमाण वसा है, उससे दुगुना पित्त है, उतना ही कफ है, खून अर्ध आढ़क प्रमाण है, मूत्र एक आढ़क प्रमाण है और छह सेर मल है। इस तरह अनेक अपवित्र पदार्थ शरीर में रहते हैं।

३. शरीर से अपवित्र पदार्थ बहते हैं।

शरीर चर्म से ढका होने के कारण इसके भीतर में भरा हुआ मैल दिखता नहीं है। इस शरीर में नौ द्वार हैं, जो प्रतिक्षण मल बहाते हैं। दो कान, दो आँखें, दो नासा छिद्र, मुख, मलद्वार और मूत्रद्वार। इन नवद्वारों से मल निकल कर घृणा उत्पन्न करता है। फोड़ा आदि होने पर जो पीप निकलता है, उसको तो देखने के भाव नहीं होते। इसतरह शरीर से अपवित्र पदार्थ बहते हैं।

४. शरीर के संसर्ग से शुद्ध पदार्थ भी अशुद्ध होते हैं।

आचार्य श्री पूज्यपाद लिखते हैं -

भवन्ति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
सकाय: संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा।।

(इष्टोपदेश - १८)

अर्थात् : **जिसके सम्बन्ध को पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा ताप को उत्पन्न करने वाला है। अत: शरीर के लिए कुछ चाहना वृथा है।**

शरीर के संसर्ग में आने वाले वस्त्र, भोजन, मालादि समस्त पदार्थों को यह शरीर अपवित्र कर देता है।

५. शरीर में अनेक रोग हैं।

चिकित्साशास्त्रियों का कथन है कि -

शरीरं व्याधि मन्दिरम्।

अर्थात् : **शरीर व्याधियों का मन्दिर है।**

आचार्य श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं -

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवादी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया।।

(भावप्राभृत - ३७)

अर्थात् : **हे जीव ! मनुष्यों के एक एक अंगुल में छियानवें -छियानवें**

रोग होते हैं, फिर समस्त शरीर में कितने रोग होगें ? सो तू बता।

इसी बात को अन्य पद्धति से समझाते हुए आचार्य श्री शिवार्य लिखते हैं -

जदि रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ।।

(भगवती आराधना - १०६१)

अर्थात् : यदि एक आँख में छयानवें रोग उत्पन्न होते हैं, तब सम्पूर्ण देह में कितनी व्याधियाँ होगी ?

शरीर में होने वाले पूर्ण रोगों की संख्या बताते हुए आचार्य श्री शिवार्य लिखते हैं -

पंचेव य कोडीओ भवंति तह अट्ठसट्ठिलक्खाइं।
णव णवदिं च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी।।

(भगवती आराधना - १०६१)

अर्थात् : पूर्ण शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चोरासी रोग होते हैं।

शरीर केवल रोगों से ही सहित हो ऐसा नहीं अपितु वह अत्यंत मलिन भी है। सम्पूर्ण समुद्र के जल से भी यदि उसे साफ किया जाये, तो भी वह स्वच्छ नहीं हो सकता।

आत्मा अत्यन्त निर्मल है। उसमें किसी प्रकार का मैल नहीं है। पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूपी तथा अनन्तगुणरूपी शरीर से वह युक्त है। आत्मा में जो कुछ भी द्रव्य, भाव और नोकर्म रूप मलिनता परिलक्षित हो रही है, वह सब पुद्गल द्रव्य की संगति करने का दुष्फल है। स्वभावतः आत्मा शुद्ध है।

देह मलिन है , मलिन था और मलिन ही रहेगा। आत्मा पवित्र है, पवित्र था और पवित्र ही रहेगा । शरीर अपनी मलिनता नहीं छोड़ता है, अतः उसे पवित्र नहीं किया जा सकता। आत्मा पवित्र है, अतः उसे पवित्र करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि फिर किसे व कैसे शुद्ध करेंगे ? किसी को भी शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

एकत्वभावना

एकः करोति कर्माणि, भुंक्ते चैकोऽपि तत्फलम् ।
एकोऽपि जायते नूनमेको याति भवान्तरम् ॥३७॥

अन्वयार्थ :
(एकः) अकेला **(कर्माणि)** कर्मों को **(करोति)** करता है **(च)** और **(एकः)** एक **(अपि)** ही **(तत्)** उस **(फलम्)** फल को **(भुंक्ते)** भोगता है। **(नूनम्)** निश्चय से **(एकः)** अकेला **(अपि)** ही **(जायते)** जन्म लेता है। **(एकः)** अकेला ही **(भवान्तरम्)** भवान्तर को **(याति)** जाता है।

अर्थ : यह जीव अकेला ही कर्मों को करता है तथा उसके फल को अकेला ही भोगता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही भवान्तर को जाता है।

भावार्थ : प्रतिसमय आत्मा को ऐसा विचार करना चाहिये कि-

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो,
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।

अर्थात् : मेरा आत्मा एक है तथा शाश्वत है। वह ज्ञान और दर्शन लक्षण वाला है। शेष जितने भी संयोग लक्षण वाले भाव हैं, वे मेरे से भिन्न हैं।

आत्मा का स्वभाव मृण्मय नहीं, चिन्मय है। वह चिन्मूर्ति अकेला है। उसके अलावा सम्पूर्ण जीवद्रव्य तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीवद्रव्य उससे पर हैं। अनन्त गुण और पर्यायों के भेदों को मिटाकर अखण्ड बना वह आत्मद्रव्य अकेला है। ज्ञान और दर्शन ये दो उसके लक्षण हैं।

अहो! आश्चर्य है कि ज्ञान के नेत्र मुंदे हुए हैं जिसके, ऐसा मूढात्मा अपने सत्यस्वरूप से अपरिचित हो जाने के कारण परद्रव्य आत्मरूप है, ऐसी आत्मघाती कल्पना करता है। कौन है किसका ? संसार के नाटक का मंचन संयोग और वियोग नामक दो निर्देशक कर रहे हैं। उस नाटक में अटक कर यह सत्य है, ऐसी भ्रमभरी कल्पनाओं

का जाल ये जीव बुन रहे हैं। इससे उन्हें दुःख ही होता है।

एक का अर्थ है, असहाय। संसार में परिभ्रमण करने वाले का कोई सहारा नहीं है। यह बात अलग है कि वह सहारा प्राप्त करने की कामना कर रहा है। जैसे निद्रा समाप्त होकर आँखें खुलते ही सपना टूट जाता है। स्वप्नों में दृश्य पदार्थ असत्य हो जाते हैं, उसीप्रकार जब सद्ज्ञान के कारण मोहनिद्रा टूट जाती है, तब वे कल्पनायें निःसार हो जाती हैं।

शंका : सांसारिक परिजनों तथा पदार्थों को भले ही अपने नहीं माने जाये, परन्तु संसारसमुद्र से पार करने वाले देव, शास्त्र, गुरु को तो अपना मानना पड़ेगा।

समाधान : नहीं, ऐसा कहना अनुचित है। नाव का सहयोग लेकर समुद्र पार होना अलग बात है और नाव को ही तारणहार समझना अलग है। देव, शास्त्र, गुरु भी परद्रव्य हैं। व्यावहारिक दृष्टि से उनको निमित्त बनाकर यद्यपि हम अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त कर लेते हैं, तथापि आत्मस्वभाव से अत्यन्त भिन्न होने के कारण वे भी परद्रव्य हैं। परद्रव्य को अपना मानने का तिल के बराबर भाव भी मोक्ष का बाधक है।

अनेकान्तदृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राथमिक शिष्य देव, शास्त्र, गुरु के सहयोग से मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है परन्तु अन्ततोगत्वा वह उनका भी सहयोग तजकर एकाकी आत्मतत्त्व का आश्रय लेता है। मोक्ष के लिए शुद्धोपयोग की दृष्टि से आत्मा देव, शास्त्र, गुरु से भी विविक्त है।

एकत्व भावना का चिन्तन करने के पाँच फल हैं। यथा -

१. प्रतिकूलता में समताभाव की उपलब्धि होती है।
२. अनुकूलता में अहंकार नहीं जगता।
३. एकाग्रता बढ़ती है।
४. परपदार्थों में ममत्वभाव उत्पन्न नहीं होता।
५. स्वभाव में रहने की प्रेरणा मिलती है।
६. ध्यान की सिद्धि होती है।

अतः मुमुक्षु जीवों को सतत एकत्वभावना का चिन्तन करते हुए अपने परिणामों को वैराग्यमयी बनाना चाहिये।

निश्चय ध्यान

ऊर्ध्वश्वासविनिर्मुक्तमध:श्वासविवर्जितम्।
मध्यशून्यं पदं कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥३८॥

अन्वयार्थ :
(ऊर्ध्वश्वास) ऊर्ध्वश्वास से **(विनिर्मुक्तम्)** मुक्त **(अधःश्वास)** अधोश्वास से **(विवर्जितम्)** रहित **(मध्य)** मध्य **(पदं)** स्थान को **(शून्यम्)** शून्य **(कृत्वा)** करके **(किञ्चित्)** कुछ **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(चिन्तयेत्)** सोचें।

अर्थ : ऊर्ध्वश्वास को ऊपर छोड़कर अधोश्वास को नीचे रोककर तथा मध्य के पद को शून्य करके कुछ भी चिन्तन न करें।

भावार्थ : योगशास्त्र में ध्यान करते समय प्राणायाम को बहुत महत्त्व दिया गया है। इस क्रिया में श्वासोच्छ्वास पर अनुशासन करना होता हैं। श्वास किस तरह लेना है ? श्वास को कब लेना है अथवा छोड़ना है ? श्वास को कब और किस तरह रोकना है ? यह सब विषय प्राणायाम के अन्तर्गत आते हैं।

प्राणायाम के फल का वर्णन करते समय आचार्य श्री शुभचन्द्र लिखते हैं :-

स्थिरीभवन्ति चेतांसि, प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद् वृत्तं च निःशेषं, प्रत्यक्षमिवजायते ।।

(ज्ञानार्णव - २६/५४)

अर्थात् : जो प्राणायाम का अवलम्बन करने वाले पुरुष हैं, उनके चित्त स्थिर हो जाते हैं। चित्त स्थिर हो जाने से ज्ञान प्राप्त होता है। उससे जगत् के समस्त वृत्तान्त प्रत्यक्ष के समान हो जाते हैं।

योगशास्त्रानुसार ध्यायक ऊर्ध्वश्वास को ऊपर की ओर ही रोक रखें और अधःश्वास को नीचे रोक लेवें। इसतरह मध्यस्थान रिक्त हो जायेगा। इस प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का चिन्तवन करना आवश्यक नहीं है।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि -

१. ध्यान के समय में रंगों का ध्यान करना चाहिये ।

२. ध्यान के समय में ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ।

३. ध्यान के समय में किसी बिन्दू का ध्यान करना चाहिये ।

४. ध्यान के समय में किसी केन्द्र का ध्यान करना चाहिये ।

५. ध्यान के समय में नाच-कूद कर मन को एकाग्र करना चाहिये।

उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। उन्होंने ध्यान को क्रिया मानने की भूल की है। ध्यान अन्तरंग तप है। जो अन्तरंग है, उसकी क्रिया नहीं की जाती, अनुभव किया जाता है। अनुभव स्वभाव है, अवस्था है - क्रिया नहीं। जबतक सम्पूर्ण संकल्प और विकल्प समाप्त नहीं हो जाते, तबतक ध्यान की कल्पना व्यर्थ है।

शंका : जैनागम में भी ध्यान के समय में द्वादश अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है। इस उपदेश को भी उचित कैसे माना जा सकता है ?

समाधान : मन क्रिया की भाषा समझता है, क्योंकि वह सतत क्रियाशील है। उसे आजतक निष्क्रियता का पाठ पढ़ाया नहीं गया। अनादिकालीन ये संस्कार एकाएक नहीं मिटते। उसके लिए उचित प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है।

इसे यूँ समझो कि कोई वाहन प्रति घण्टा सौ किलोमीटर की गति से चल रहा है। यदि उस वाहन को रोकना है, तो पहले उसकी गति कम करनी पड़ेगी। उसीतरह मन अति चपलता से विषय-कषायों में भ्रमण कर रहा है। उसकी गति को कम किये बिना उसको रोकना संभव नहीं है। बारह भावनाओं का चिन्तन मन की गति को कम करने का साधन है।

चंचल चित्त को बारह भावनाएँ एक दिशा देती है। फलस्वरूप मन के असंख्यात विकल्पों के स्थान पर कुछ विकल्प ही शेष रहते हैं। वे विकल्प भी शनैः शनैः विलीन होने लगते हैं। अतः अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन ध्यान की पूर्व तैयारी है। जिन्हें निजस्वरूप में लीन रहने की अभिलाषा है, जो मुक्तिपथ के राही हैं, उन्हें चाहिये कि वे अपने आत्मा में स्थिर हो जाये। शेष सम्पूर्ण विकल्प स्वयं ही तिरोहित हो जायेंगे।

परमतत्त्व का लक्षण

यावन्निवर्तते चिन्ता, तावत्पारं न गच्छति ।
विद्यते हि परं तत्त्वं, मनोऽपोहित कायवत् ॥३९॥

अन्वयार्थ :

(यावत्) जबतक **(चिन्ता)** चिन्ता **(निवर्तते)** रहती है **(तावत्)** तबतक **(पारम्)** पार को **(न)** नहीं **(गच्छति)** जाता है। **(हि)** निश्चय से **(परम्)** परम **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(मनः)** मन से **(अपोहित)** रहित **(कायवत्)** काय के समान **(विद्यते)** रहता है।

अर्थ : जबतक चिन्ता रहती है, तबतक यह जीव भव से पार नहीं हो सकता। निश्चय से परमतत्त्व मन से रहित काया के समान निश्चेष्ट रहता है।

भावार्थ : आचार्य श्री पद्मनन्दि जी ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है-

हे चेतः किमु जीव तिष्ठसि कथं चिन्तास्थितं सा कुतो ।
राग द्वेष वशात्तयोः परिचयः कस्माच्च जातस्तव ॥
इष्टानिष्ट समागमादिति यदि श्वभ्रं तदावां गतौ।
नोचेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादि संकल्पनम् ॥

(पंचविंशतिका - १/१४५)

अर्थात् : **जीव -** **हे चित्त!**
मन - **क्या है जीव ?**
जीव - **तुम कैसे हो ?**
मन - **मैं चिन्ता में स्थित हूँ।**
जीव - **चिन्ता की उत्पत्ति किसतरह हुई है ?**
मन - **राग-द्वेष के वश से चिन्ता उत्पन्न हुई है।**
जीव - **तुम्हारा परिचय राग-द्वेष से किसतरह हो गया ?**
मन - **इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं के संसर्ग से राग-द्वेष हुआ है।**
जीव - हे चित्त! यदि ऐसा है, तो हमें नरकगति में जाना

पड़ेगा। नरक में जाना यदि तुम्हे इष्ट नहीं है, तो शीघ्र ही तुम परपदार्थों को तज दो।

चिन्ता अनेकार्थक शब्द है। यथा -

दर्शनशास्त्र के अनुसार जहाँ-जहाँ साधन है, वहाँ-वहाँ साध्य है। जहाँ-जहाँ साध्य नहीं, वहाँ-वहाँ साधन नहीं। इसप्रकार के व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते है।

चिति चिन्तायाम् धातु से चिन्ता शब्द निष्पन्न हुआ है। विचार यह उस शब्द का अर्थ है।

तत्त्वार्थसूत्र में चिन्ता का अर्थ विकल्प है।

सूत्रकृतांग ग्रन्थानुसार चिन्ता का अर्थ पर्यालोचन है।

मनोरोगों में कुविचार को चिन्ता कहा है।

स्मृति, धारणा, अध्यान या ध्यान के लिए भी चिन्ता कहते हैं।

मार्गविशेष या अश्वविशेष को भी चिन्ता शब्द प्रयुक्त होता है।

यहाँ चिन्ता का अर्थ विचार या विकल्प अभीष्ट है।

जबतक चिन्ता से निवृत्ति नहीं होती, तबतक वह राग-द्वेष को उत्पन्न करती रहती है। राग-द्वेष कर्म को भेजा गया आमन्त्रण-पत्र है। इस में महान् कर्मास्रव हैं। आस्रव बन्ध का व बन्ध संसार का कारण है। जिससमय विकल्प नष्ट हो जाते हैं, उसीसमय परमपद की प्राप्ति हो जाती है। इसी तथ्य को विलोककर अध्यात्मिक सन्त योगीन्द्रदेव लिखते हैं -

यावन्निवर्तते चिन्ता, तावत्पारं न गच्छति।

परमतत्त्व की प्राप्ति जिस जीव को हो जाती है, वह जीव कैसे रहता है ? जिसतरह मन से रहित होने पर काया सम्पूर्ण हलन-चलनादि क्रिया से रहित हो जाती है, उसीतरह जिस जीव को परमतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, वह जीव सम्पूर्ण सांसारिक प्रपंचों से रहित हो जाता है। जिसे परमतत्त्व उपलब्ध हो गया है वह ध्यान, ध्याता और ध्येय के विकल्पों से अथवा सम्पूर्ण संकल्प और विकल्पों से रहित हो जाता है। वह जीव निज अखण्ड शाश्वत चैतन्यतत्त्व में वह सतत लवलीन रहता है।

सच्चा योगी

अरिषड्वर्गमाश्रित्य, भूपोऽपि न च भूपतिः ।
अरि षड्धर्ममाश्रित्य, योगो योगो न योगिनाम् ।।४०।।

अन्वयार्थ :

(षड्वर्गम्) षड्वर्ग **(आश्रित्य)** आश्रित **(भूपः)** राजा **(अपि)** भी **(भूपतिः)** राजा **(न)** नहीं है **(च)** और **(षड्धर्मम्)** षड्धर्म **(अरि)** शत्रु के **(आश्रित्य)** आश्रित **(योगः)** योग **(योगिनाम्)** योगियों का **(योगः)** योग **(न)** नहीं है।

अर्थ : जो राजा षड्वर्ग रिपुओं के आश्रित हो गया है, वह राजा राजा नहीं है। जो योग षड्धर्म रूपी शत्रुओं के आश्रित हुआ है, वह योगियो का योग नहीं है।

भावार्थ : राजनीतिशास्त्र में राज्यसंचालन, राज्य का विकास आदि की विधियाँ समझायी गयी हैं। नीतिशास्त्रानुसार राजा मे शूरता, धैर्य, प्रजावत्सलत्व, न्यायप्रियत्व आदि अनेक गुण विद्यमान होने चाहिये। राजा यदि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन षट्रिपुओं से संयुक्त है, तो वह राजा नहीं है क्योंकि वह षट्-रिपुओं के कारण से अपने न्यायप्रियता आदि गुणों की सुरक्षा नहीं कर पाता है।

वैसे ही यदि योगी योग के काल में दया, दान, पूजा, सेवा, यम और नियमादि षडावश्यक क्रियाओं का आश्रय लेता है, तो उसका योग मोक्ष को देने वाले अभेद रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग की रक्षा नहीं कर पाता है।

शंका : षडावश्यक कर्मों को अरि षड्धर्म क्यों कहा है ?

समाधान : भेदरत्नत्रय विकल्पात्मक है एवं विकल्प रागात्मक होते हैं। यदि षडावश्यकरूप भेदरत्नत्रय का सेवन किया जायेगा, तो शुद्धोपयोग रूप निश्चयध्यान में बाधा उत्पन्न होगी। जो बाधा उत्पन्न करते हैं, लोक में उन्हें शत्रु माना जाता है। षडावश्यक ध्यान में विकल्परूप बाधा के उत्पादक हैं, अतः वे शत्रु हैं।

शंका : अवश्य करणीय कार्य आवश्यक कहलाते हैं, यह परिभाषा

असत्य होने का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है ?

समाधान : ऐसा नहीं कहना चाहिये। आवश्यकों का वर्णन शुभोपयोगी श्रमणों के लिए किया गया है। अतः इनका अनुपालन शुभोपयोग में स्थित रहने वाले साधुओं के द्वारा किया जाता है।

षडावश्यक कर्म पूर्णतया हेय हैं, ऐसा ग्रंथकार का मन्तव्य नहीं है। ग्रंथकार के मतानुसार ध्यानावस्था में विकल्पोत्पादक कर्म हेय हैं। अन्य अवस्था में भेद व अभेदरत्नत्रय में साध्य-साधन का सम्बन्ध जानना चाहिये।

ध्यानावस्था में भेदरत्नत्रय विषकुंभ हैं, ऐसा आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं। यथा -

पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ।।

(समयसार : ३०६)

अर्थात् : प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और प्रत्याख्यान ये आठ प्रकार का विषकुंभ हैं।

यहाँ इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिये कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव जैसे परम चारित्रवान् सन्त चारित्र के आधारभूत प्रतिक्रमणादि को विषकुंभ की संज्ञा दे रहे हैं । इस कथन के पीछे एक ही रहस्य है कि ध्यान के काल में प्रतिक्रमणादिकों का विकल्प साधु को परम चारित्र अर्थात् निश्चय चारित्र से दूर रखता है । अतः जबतक आत्मस्वरूप में लीन होने की पात्रता का आविर्भाव नहीं हो जाता, तबतक उसकी प्राप्ति का लक्ष्य मन में रखकर प्रतिक्रमणादि द्रव्यक्रियाओं का अवलम्बन लेना चाहिये । यदि निश्चयचारित्र का लक्ष्य मन में न हो और व्यावहारिक क्रियाओं का अनुष्ठान अत्यन्त विधिपूर्वक करते हो तो भी आत्मकल्याण नहीं हो सकता है ।

योग के काल में अशुभ विचारों के समान शुभविचार भी त्याज्य है, क्योंकि विचार चाहे शुभ हो या अशुभ कषायात्मक हैं। कषाय और योग बन्धप्रत्यय हैं। अतः योगीगण विचारों को तजकर निर्मल आत्म-स्वभाव में लीन हो जाते हैं ।

ध्यान के भेद

आर्त्तरौद्रं परित्यज्य, धर्मशुक्लं समाचरेत् ।
ताभ्यां परतरं नास्ति, परमात्मप्रभाषितम् ॥ ४१॥

अन्वयार्थ :
(आर्त्तरौद्रम्) आर्त्त और रौद्रध्यान को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(धर्मशुक्लम्)** धर्म और शुक्लध्यान का **(समाचरेत्)** आचरण करें। **(ताभ्याम्)** उन दोनों से **(परतरम्)** श्रेष्ठ (ध्यान) **(नास्ति)** नहीं है ऐसा **(परमात्म)** परमात्मा ने **(प्रभाषितम्)** कहा है।

अर्थ : आर्त्त और रौद्र, इन दो दुर्ध्यानों को छोड़कर धर्म और शुक्लध्यान का आचरण करें। उन दोनों ध्यान से श्रेष्ठ कुछ नहीं है , ऐसा परमात्मा ने कहा है।

भावार्थ : मन को किसी एक विषय में एकाग्र करने का नाम ही ध्यान है । अथवा स्थिर ज्ञान को ही ध्यान कहा जाता है ।

आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज ध्यान के भेदों को बताते हुए लिखते हैं -

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।

(तत्त्वार्थसूत्र - ९/२८)

अर्थात् : आर्त्त, रौद्र , धर्म और शुक्ल ये चार ध्यान हैं।

१. *आर्त्तध्यान :* जिस ध्यान में तीव्र दुःखयुक्त परिणाम होते हैं उसे आर्त्तध्यान कहते हैं ।

आचार्य श्री अकलंकदेव ने लिखा है -

ऋतमर्दनमार्तिर्वा तत्र भवमार्त्तम् ।
ऋतं दुःखम् अथवा अर्दनमार्तिर्वा तत्र भवमार्त्तम्।।

(राजवार्तिक)

अर्थात् : ऋत, दुःख और अर्दन को अर्ति कहते हैं और अर्ति से होने

वाला ध्यान आर्त्तध्यान है।

यह ध्यान छठे गुणस्थानपर्यंत अवस्थित रहता है। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ाचिन्तन और निदानबंध इन भेदों से युक्त यह आर्त्तध्यान पापप्रयोगाधिष्ठान, नाना संकल्पों से युक्त, विषय-तृष्णा से व्याप्त, कषायस्थानों से युक्त, अशान्तिवर्धक तथा अज्ञानमूलक होने के कारण प्रमुखरूप से तिर्यंचगति का कारण है।

२. रौद्रध्यान : जिस ध्यान में अत्यन्त क्रूर परिणाम होते हैं उस ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं ।

रौद्र शब्द का अर्थ करते हुए श्री शुभचन्द्राचार्य लिखते हैं -

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम् ।
रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ।।

(ज्ञानार्णव - २४/२/१२२४)

अर्थात् : रुद्र का अर्थ यहाँ दुष्ट अभिप्राय वाला प्राणी है। उस रुद्र प्राणी का जो कर्म (क्रिया) है, उसे रौद्र कहा गया है। अथवा उक्त रुद्र प्राणी का जो भाव है उसे रौद्र कहा जाता है।

उस रौद्रतायुक्त ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं।

श्री शुभचन्द्राचार्य का मत हैं कि -

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापेपदेशे भृशम् ।
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।।
संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता ।
यत्स्यादेहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः।।

अर्थात् : प्राणियों के जो हिंसा करने में कुशलता, पाप के उपदेश में अतिशय प्रवीणता, नास्तिकमत के प्रतिपादन में चतुरता, प्रतिदिन प्राणघात में अनुराग, दुष्टजनों के साथ सहवास तथा निरंतर जो स्वाभाविक दुष्टता रहती है, उसे यहाँ वीतराग महात्माओं ने रौद्रध्यान कहा है।

आचार्य श्री अकलंकदेव लिखते हैं -

एवमुक्ताप्रशस्तध्यान परिणतात्मा तप्तायस्पिण्ड इवोदकं कर्मादत्ते।

(राजवार्तिक - ९/३४/४)

अर्थात् : जैसे अग्नि से संतप्त लोहपिण्ड चारों तरफ से जल खींचता है, उसीप्रकार इन आर्त्त, रौद्ररूप अप्रशस्त ध्यानों में परिणत आत्मा चारों ओर से कर्मरूपी जल खींचता है, कार्माणवर्गणाओं को ग्रहण करता है।

ये दोनों संसार के कारण होने से त्याज्य हैं।

३. ***धर्मध्यान*** : जिस ध्यान में वस्तुस्वरूप का अथवा क्षमादि भावों का चिन्तन होता है उस ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।

श्री जिनसेनाचार्य का कथन है -

बाह्यात्मिकभावानां, याथात्म्यं धर्म उच्यते ।
तद्धर्मादनपेतं, यद्धर्म्यं तद्ध्यानमुच्यते।।

(हरिवंशपुराण - ५६/३५)

अर्थात् : बाह्य और आध्यात्मिक भावों का जो यथार्थ भाव है, वह धर्म कहलाता है। उस धर्म से जो सहित है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं।

शास्त्रार्थ की खोज, शील-व्रतों का पालन, गुणानुराग आदि सद्गुणों के कारण यह जीव के लिए परम्परा से मोक्ष का मार्ग है।

४. ***शुक्लध्यान*** : जिस ध्यान के व्दारा आत्मा के निर्मल स्वभाव का चिन्तन किया जाता है उस ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं।

आचार्य श्री अकलंक ने लिखा है -

शुचिगुण योगाच्छुक्लम्।

यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्म परिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरुच्यते

(राजवार्तिक - ९/२८/४)

अर्थात् : शुचि गुण के योग से शुक्ल होता है। जैसे - मैल हट जाने से वस्त्र शुक्ल (श्वेतवर्ण) हो जाता है, उसीप्रकार गुणों के साधर्म्य से निर्मल गुणरूप आत्मपरिणति भी शुक्ल कहलाती है।

यह ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है।

आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग व धर्म और शुक्लध्यान के आचरण का उपदेश जैनागम में दिया गया है।

ध्यान के हेतु

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रंथ्यं समभावना।
जयःपरीषहाणां च, पञ्चैते ध्यान हेतवः॥४२॥

अन्वयार्थ :
(वैराग्यम्) वैराग्य **(तत्त्वविज्ञानम्)** तत्त्वविज्ञान **(नैर्ग्रन्थ्यम्)** निर्ग्रंथता **(समभावना)** समताभाव **(च)** और **(परीषहाणाम्)** परीषहों का **(जयः)** जीतना **(एते)** ये **(पञ्च)** पाँच **(ध्यानहेतवः)** ध्यान के हेतु हैं।

अर्थ : वैराग्य निर्ग्रंथता तत्त्वविज्ञान, समभावना और परीषहजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।

भावार्थ : इस कारिका में ध्यान की अवस्था में पहुँचने के लिए जिस पूर्व तैयारी की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन किया गया है।

१. वैराग्य : इष्टवस्तुओं में प्रीतिरूप लक्षण वाला राग तथा अनिष्ट वस्तुओं में अप्रीति लक्षण वाला द्वेष इन दोनों के कारण जीव कर्मों से बन्ध रहा है। अतः परवस्तुओं के प्रति आसक्ति भाव को कम करना। साधक के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य है।

परवस्तुओं के प्रति राग से विरक्त हो जाना वैराग्य है।

आचार्य श्री अकलंक देव ने लिखा है -

चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद् वा शब्दादिभ्यो विरञ्जनं विराग इति व्यवसीयते। विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम् ।

अर्थात् : चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर अथवा उसके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के कारण शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना विराग है।

विराग का भाव अथवा कर्म वैराग्य कहलाता है।

संसार, शरीर और भोगों के पंक में उलझा हुआ जीव अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर पाता। परद्रव्य की आसक्ति मन को चंचल बनाती है। मानसिक चंचलता के सद्भाव में ध्यान नहीं हो सकता,

अतः ध्यानसाधक में वैराग्य नामक गुण होना चाहिये।

२. *तत्त्वविज्ञान* : तत्त्वविज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के बिना चारित्र निरर्थक है। ज्ञानवान् का चारित्र ही मोक्षफल को फलता है। ज्ञान के द्वारा आत्मा निज के हित व अहित को जानता है । साधना का लक्ष्य, साधना की विधि, साधना में आवश्यक सावधानी इन सब बातों का बोध तत्त्वविज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। अतः ध्यानसाधक में तत्त्वविज्ञान नामक गुण होना चाहिये।

३. *निर्ग्रन्थता* : ग्रंथ का अर्थ परिग्रह है । परिग्रह के द्रव्य और भाव ये दो भेद हैं । दोनों ही प्रकार के परिग्रह का त्याग करके परम निस्पृहता को धारण करना ही निर्ग्रंथता है ।

निर्ग्रन्थ शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री श्रुतसागर जी लिखते ह -

निर्ग्रन्थाः परिग्रहरहिताः।

(मोक्षपाहुड - ८०)

इसीको स्पष्ट करते हुए आर्यिका ज्ञानमती लिखती है -

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहग्रन्थिभ्यो निष्क्रान्तः निर्ग्रन्थः।

(नियमसार - ४४)

अर्थात् : जिनकी बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की ग्रन्थियाँ विनष्ट हो चुकी हैं वे निर्ग्रन्थ हैं।

आचार्य श्री जयसेन का कथन है -

यथाजातरूपधरः व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः।

(प्रवचनसार - २०४)

अर्थात् : व्यवहारनय से नग्नत्व यथाजातरूपपना है और निश्चय से अपनी आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है वह यथाजात रूप है। साधु इन दोनों को धारण कर निर्ग्रन्थ हो जाता है।

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी का कथन है -

ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी मिच्छत्तादी गंथो, अब्भंतर

गंथकारणत्तादो। एदस्य परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादीगंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं।

(धवला-९/३२३)

अर्थात् : व्यवहारनय की अपेक्षा से क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे आभ्यन्तर ग्रन्थ के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे कर्मबन्ध के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

निर्ग्रन्थ का भाव अथवा कर्म निर्ग्रन्थता है।

परिग्रह मकड़ी के जाल की भाँति है। जो जीव उस में एकबार भी उलझ जाता है, फिर वह अपने आप को मुक्त नहीं कर पाता।

यही कारण है कि ध्यानसाधक का निर्ग्रन्थ होना आवश्यक है।

४. समत्वभाव : सम् धातु है। इसका अर्थ है सदृश, तुल्य, समान। यह पचादिगण का पाठ होने से **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः।** इस पाणिनीय सूत्रानुसार अच् प्रत्यय होने पर सम शब्द बनता है। सम शब्द से तल् प्रत्यय करने पर समत शब्द बनता है तथा स्त्रीलिंग के अर्थ में टाप् प्रत्यय का प्रयोग करने पर समता शब्द की निष्पत्ति होती है। समता का अर्थ होता है एकरूपता।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है -

जीविद मरणे लाभालाभे संजोग विप्पजोगे य।
बंधुरि सुह दुक्खादिसु समदा सामायियं णाम।।२५।।

(मूलाचार - १/२५)

इसीको शब्दान्तर करते हुए आचार्य श्री अमितगति लिखते हैं-

जीवित मरणे योग वियोग विप्रिये प्रिये।
शत्रौ मित्रे दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः।।

(अमितगति श्रावकाचार - ६/३२)

समता परिणाम जब मन में जागृत हो जायेंगे, तब उसीसमय मन से सम्पूर्ण विकल्प नष्ट हो जायेंगे। उस से इष्टानिष्ट का विकल्प नहीं हो सकता, राग व द्वेष से मुक्ति मिल जायेगी। समताभाव समस्त साधना की रीढ़ है।

आचार्य श्री शुभचन्द्र लिखते हैं -

साम्यकोटिं समारूढो, यमी जयति कर्म यत्।
निमेषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः।।

(ज्ञानार्णव - ११५८)

अर्थात् : समताभाव के अग्रभाग पर (शिखर पर) आरूढ़ हुआ योगी जिस कर्म को निमेष (नेत्र की टिमकार) मात्र काल के भीतर क्षणभर में ही जीत लेता है, उसी को उक्त समताभाव से रहित जीव तपश्चरण के द्वारा करोड़ों जन्मों में जीत पाता है।

यदि साधक में समताभाव नहीं होगा तो साधक प्रतिकूल परिस्थितियों में विलाप और अनुकूल परिस्थितियों में विलास करते हुए आत्मनिधि को भूल जायेगा ।

अतः साधक को समताभावी होना चाहिये।

६. परीषहजय : आगन्तुक कष्टों को जैनागम में परीषह कहा जाता है । कर्मों का तीव्र विपाक इन परीषहों का मूल कारण है । परीषह आनेपर उन्हें समताभाव से सहन करने का नाम ही परीषजय है ।

परीषह के बाईस भेद हैं । यथा - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ।

परीषहों को क्यों सहन करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने लिखा है -

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

(तत्त्वार्थसूत्र - ९/८)

अर्थात् : संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के हेतु बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं।

परीषह सहन करने से साधना में अविचलता प्राप्त होती है, कष्ट सहन करने की ताकत आती है । शरीर के प्रति ममत्व कम होता है । आत्मा में रमण करने की पात्रता प्राप्त होती है ।

उपर्युक्त पाँच साधन जिनके पास हैं, वे ही सच्चे अर्थों में ध्यानी बन सकते हैं।

ध्यान के स्थान

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे।
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते॥
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यात्मदेहे।
तिष्ठैकस्मिन् विगत विषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥४३॥

अन्वयार्थ :
(अमलमतिभिः) निर्मल बुद्धिधारी आचार्यों ने **(आत्म)** अपने **(देहे)** शरीर में **(नेत्रद्वन्द्वे)** नेत्रयुगल **(श्रवणयुगले)** कर्णयुगल **(नासिकाग्रे)** नासिकाग्र **(ललाटे)** ललाट **(वक्त्रे)** मुख **(नाभौ)** नाभि **(शिरसि)** मस्तक **(हृदये)** हृदय **(तालुनि)** तालु **(भ्रू-युगान्ते)** भ्रू-युगल **(ध्यानस्थाननि)** ध्यान के स्थान **(कीर्तितानि)** कहे है। **(एकस्मिन्)** एक स्थान पर **(तिष्ठ)** रह कर **(विषयम्)** विषय से **(विगत)** रहित **(चित्तम्)** चित्त का **(आलम्बनीयम्)** अवलम्बन लेवें।

अर्थ : निर्मल बुद्धिधारी आचार्यों ने अपने शरीर में नेत्रद्वय, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और भ्रू-युगान्त में ध्यान के स्थान बताये हैं।

हे योगी! तुम्हें ध्यान में बैठकर इन स्थानों में से किसी एक स्थान पर विषयों की वांछा से रहित होकर अपना चित्त एकाग्र करना चाहिये।

भावार्थ : इस छन्द में ध्यान के १० स्थानों का वर्णन किया गया है।

१. नेत्रयुगल : योगशास्त्रानुसार नेत्र चाक्षुष केन्द्रस्थान है। ध्यान की मुद्रा में आँखें बन्द रखनी हो, तो सहजतया कोमलता से बन्द कर लेवें। इस केन्द्र का ध्यान करने से ज्ञानतन्तु स्वयमेव सक्रिय हो जाते हैं, जिससे ज्ञान विकसित होता है। दृष्टिकोण को निर्मल करने का कार्य इसी केन्द्र से होता है ।

२. कर्णयुगल : कर्ण में एक केन्द्र है - अप्रमाद। यह संवेदन का केन्द्र है। इस केन्द्र पर चित्त को स्थिर करने से जागरुकता का विकास होता है। निद्रा पलायन कर जाती है। प्राचीन भारतीय परम्परा में कर्ण-वेधन करने की जो प्रथा थी, उसका यही रहस्य था। शरीरशास्त्र में भी कनपटी व उसके आसपास के क्षेत्र को बहुत महत्त्व प्राप्त है। उससे ध्यान की निर्विघ्न सिद्धि होती है।

३. नासिकाग्र : ध्यान के समय नासाग्रमुद्रा का होना अत्यावश्यक माना गया है। प्राणवायु शरीर में सम्पूर्ण व्याप्त है, परन्तु नासिका पर उसकी उपस्थिति अधिक मानी गई है। इसलिए यहाँ ध्यानविदों ने प्राणकेन्द्र माना है। नासाग्र होते ही मूलनाड़ी तन जाती है, जिससे मूलबन्ध स्वतः ही हो जाता है। इस केन्द्र का ध्यान करने से जैविक शक्तियों का विकास होता है। इससे मनुष्य इच्छित कार्य को पूर्ण करने के तन्त्र को प्राप्त कर लेता है। यह ध्यान प्रसन्नतावर्धक है।

४. ललाट : ललाट के भीतर गहराई में ज्योतिकेन्द्र स्थित है। यह केन्द्र वासना, आवेग तथा विकारों को उपशम करने वाला है। यदि इस केन्द्र पर श्वेतवर्ण का ध्यान किया जावे, तो अधिक लाभप्रद व शीघ्र फलदायी है। उत्तेजना को समाप्त करके शान्त बनाने में इस केन्द्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पर ध्यान करने से असंयम विलय को प्राप्त होता है, हृदय परिवर्तित हो जाता है, मनस्ताप नष्ट होकर चिन्तन को सु-व्यवस्थित दिशा प्राप्त होती है।

५. मुख : मुख में जिह्वा के अग्रभाग में ब्रह्मकेन्द्र है। इस पर ध्यान करने से दमित वासनायें भी समाप्त हो जाती ह। उसके फलस्वरूप ब्रह्मचर्य विशुद्ध हो जाता है, साधना में परिपक्वता आने लगती है तथा वाचासिद्धि हो जाती है। ऐसा साधक अपने ध्येय को अवश्य प्राप्त करता है। दृढ इच्छाशक्ति के विकास के लिए व इन्द्रियों के नियमन के लिये इस केन्द्र पर चित्त का एकाग्र करना लाभप्रद माना गया है।

६. नाभि : नाभिस्थान पर मणिपुर नामक चक्र है। इस चक्र का ध्यान करने से आरोग्य का विकास होता है, ऐश्वर्य वृद्धिंगत होता है तथा आत्मसाक्षात्कार होता है। यहाँ तैजसकेन्द्र भी है। यह केन्द्र अग्नि का

स्थान है। अतः वृत्तियों को उभार लाने के लिए यह अपना योगदान देता है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि इस के साथ विशुद्धिकेन्द्र का ध्यान करना चाहिये अन्यथा वासना के उद्दाम वेग को रोक पाना असंभव होगा और साधनाच्युत होना पड़ेगा।

७. मस्तक : मस्तिष्क में सहस्रार नामक चक्र होता है। योगशास्त्र में इस चक्र का अत्यधिक महत्व है। इसी को ही योगशास्त्र में ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं।

यह शान्तिकेन्द्र का स्थान है। नाड़ीसंस्थान व अन्तःस्रावी ग्रन्थिसंस्थान का संगम स्थल होने से यह शरीर का नियन्त्रण कक्ष है। इस पर ध्यान करने से चिन्तामुक्ति, दुःखविनाश, शान्ति की प्राप्ति आदि फल मिलते हैं। किन्हीं योगविदों ने मस्तिष्क को ज्ञानकेन्द्र कहा है। अतः स्मरणशक्ति के विकास के लिए इस केन्द्र का ध्यान सर्वश्रेष्ठ है।

८. हृदय : ध्यानशास्त्रों ने हृदय में अनाहतचक्र को स्वीकार किया है। आत्मस्थता की प्राप्ति में इस चक्र का सहयोग मिलता है तथा वह समस्त यौगिक उपलब्धियों का प्रदाता है। यहाँ जो केन्द्र है, उसको आनन्दकेन्द्र कहते हैं। यह थायमस ग्रंथि का प्रभाव क्षेत्र है। यह ग्रंथि काम को सक्रिय नहीं होने देती, मस्तिष्क के साम्यविकास में सहयोग करती है तथा लसिका कोशिकाओं के विकास में अपने स्रावों द्वारा मदत कर रोगों का विरोध करती है। इस केन्द्र पर ध्यान को केन्द्रित करने से साधक बाह्य जगत से अपना सम्पर्क तोड़कर आत्मानन्द प्राप्त करता है।

९. तालु : यहाँ संयमकेन्द्र है। यूँ भी किसी को क्रोध आ रहा हो और वह जीभ को उलट कर तालु पर लगा लेवे, तो क्षणार्द्ध में क्रोध का विनाश हो जायेगा। इतना ही नहीं, यही प्रयोग चिन्ता के समय पर करने पर चिन्ता समाप्त हो जायेगी और भावधारा में पूर्ण परिवर्तन आ जायेगा। अतः मानसिक एकाग्रता, विषय-नियमन, कषायोपशमन तथा आवेगों के रोधन में इस का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

१०. भ्रूयुगान्त : दोनों भृकुटियों के मध्य स्थान को भ्रूयुगान्त कहते हैं। यहाँ पर दर्शनकेन्द्र माना गया है। इस केन्द्र को पश्चिम के साधकों ने तीसरी आँख यह नाम दिया है। कुछ साधक दर्शनकेन्द्र को सर्वज्ञताकेन्द्र

कहते हैं। शरीर में स्थित पीयूषग्रन्थि का सन्तुलन इसी केन्द्र से होता है। यदि चित्त को इस केन्द्र पर केन्द्रित किया जाये, तो चेतना का विकास समग्र रूप से हो जाता है। अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास, ज्ञान का विकास तथा तत्काल निर्णय की क्षमता इस केन्द्र के ध्यान से प्राप्त होती है।

ध्यान करते समय जबतक विषयों की वांछा होगी, तबतक ध्यान की सिद्धि नहीं होगी। अतएव ध्यान के समय वांछा से विहीन हो जाना चाहिये।

साधक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि -

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति ।
इत्युत्यक्त्वाद्धितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत् ।।

(स्वरूप सम्बोधन - २१)

अर्थात् : जिसकी मोक्ष में भी अभिलाषा नहीं होती, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

अतः हितान्वेषक को कोई इच्छा नहीं करनी चाहिये।

जब मोक्ष की वांछा भी मोक्ष के लिए अवरोधक है, तो अन्य वांछाएँ अवरोधक क्यों न होगी ? अतएव साधक को निर्वांछक बनना ही श्रेयस्कर है।

ऐसे ध्यान की प्रशंसा करते हुए आ. पूज्यपाद लिखते हैं -

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थिते।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः।।

(इष्टोपदेश - ४७)

अर्थात् : व्यवहार से रहित होकर जो आत्मानुष्ठान में निष्ठ हो चुका है, ऐसा योगी योग के प्रसाद से परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

आत्मनिष्ठत्व परमानन्द का जनक, शुद्धत्व का उत्पादक, परविकल्पों का संहारक तथा संसार का विनाशक है। अतः आत्मनिष्ठ होने का प्रयत्न करना चाहिये।

ज्ञातव्य है कि यह छन्द **आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव** (२७/१३) में भी पाया जाता है ।

ग्रंथाध्ययन का फल

[illegible]

ज्ञानांकुशमिदं चित्त, प्रमत्तकरिणां कुशम् ।
योऽधीतेऽनन्यचेतस्कः, सोऽभ्युपैति परं पदम्॥४४॥

अन्वयार्थ :

(इदम्) यह **(ज्ञानांकुशम्)** ज्ञानांकुश **(चित्त)** मन के **(प्रमत्त)** प्रमत्त **(करिणाम्)** हाथी के लिए **(कुशम्)** अंकुश है। **(यः)** जो **(अनन्यचेतस्कः)** अनन्यचेता इसका **(अधीते)** अध्ययन करता है **(सः)** वह **(परम्)** परम **(पदम्)** पद को **(अभ्युपैति)** प्राप्त करता है।

अर्थ : मनरूपी प्रमत्त हाथी को वश करने के लिए यह ज्ञानांकुश अंकुश के समान है।

जो अनन्यचेता होकर इस ग्रंथ का अध्ययन करता है, वह परम पद को प्रात करता है।

भावार्थ : इस कारिका में मन को पागल हाथी की उपमा दी गई है।

जब हाथी के गण्डस्थल से मद झरने लगता है, तब वह पागल हो जाता है। सर्वत्र उत्पात मचाता है। बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़कर फेंक देता है। समक्ष में आये हुए मनुष्य अथवा प्राणियों के प्राणों का विघात करता है। जोर-जोर से चिंघाड़ता रहता है। पागलपन में हाथी यमदूत की तरह बन जाता है।

स्वच्छन्द मन भी पागल हाथी की तरह होता है। वह विषयवन में इतस्ततः दौड़ लगाता है, आत्मा के सद्गुणरूपी वृक्षों को उखाड़कर फेंकता है। व्रत और संयम का विनाश करता है, असंयम की जोरदार चिंघाड़ करता है। ध्यान का घात करता है तथा पुण्य की लतिका को जड़मूल से उखाड़कर फेंक देता है।

ग्रंथकार ने सम्यग्ज्ञान को अंकुश की उपमा दी है।

जिसप्रकार मत्त हुए हाथी को कुशल महावत अंकुश के द्वारा अपने वश में करता है तथा उस पर सवारी करता है, उसीप्रकार संयम-

तपरूपी वैभव के धारक, दिगम्बर मुनिराज सम्यग्ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा मनरूपी हाथी को अपने वश में कर लेते हैं तथा मन पर सवार होकर मोक्ष नगर जाते हैं।

इस ग्रंथ का नाम भी ज्ञानांकुश है।

ग्रंथकार कहते हैं कि जो अनन्यचित्त वाला होकर अर्थात् एकाग्रमना होकर इस ग्रंथ का पठन-पाठन करता है, वह अवश्यमेव मनोकुंजर को अपने वश करके परमपद अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त करता है।

टीकाकार द्वारा अन्तिम मंगल

सन्मति प्रभु को नमन करूं, मति सन्मति बन जाय।
सन्मति गुरु, माँ शारदे, नमूं तुम्हारे पाय।।

आत्मतत्त्व के हेत ये, रचना गुण की खान।
भूल चूक यदि हो कहीं, शोध पढ़ो धीमान।।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

विनय

विनय धर्म का मूल है। विनय के कारण गुरु प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न हुए गुरु अपने मुखारविन्द से शास्त्रों के रहस्यों को समझाते हैं। शास्त्र के रहस्यों को जानने से सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होती है। ज्ञान के कारण जीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता है। विरक्तता के कारण जीव पर से उपरत होता है। पर से उपरत हो जाने पर ध्यान उपलब्ध होता है। ध्यान से संवर और निर्जरा होती है। संवर और निर्जरा मोक्ष का कारण है। सारांश यह है कि विनय ही मोक्ष का कारण है।

[illegible]

क्र.	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकार
१.	भगवती आराधना	आचार्य श्री शिवकोटि जी
२.	तिलोयपण्णत्ती	आचार्य श्री यतिवृषभ जी
३.	समयसार	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
४.	प्रवचनसार	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
५.	नियमसार	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
६.	मूलाचार	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
७.	मोक्षपाहुड	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
८.	भावपाहुड	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
९.	पंचास्तिकाय	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
१०.	बारसाणुवेक्खा	आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी
११.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आचार्य श्री समन्तभद्र जी
१२.	तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य श्री उमास्वामी जी
१३.	आप्तपरीक्षा	आचार्य श्री विद्यानन्द जी
१४.	सर्वार्थसिद्धि	आचार्य श्री पूज्यपाद जी
१५.	इष्टोपदेश	आचार्य श्री पूज्यपाद जी
१६.	समाधिशतक	आचार्य श्री पूज्यपाद जी
१७.	राजवार्तिक	आचार्य श्री अकलंक जी
१८.	धवला	आचार्य श्री वीरसेन जी
१९.	आचारसार	आचार्य श्री वीरनन्दि जी
२०.	हरिवंशपुराण	आचार्य श्री जिनसेन जी
२१.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका	आचार्य श्री पद्मनन्दि जी
२२.	परमात्मप्रकाश	आचार्य श्री योगीन्दु जी
२३.	योगसार	आचार्य श्री योगीन्दु जी
२४.	सुभाषितरत्नसन्दोह	आचार्य श्री अमितगति जी
२५.	द्वात्रिंशतिका	आचार्य श्री अमितगति जी

26.	तत्त्वभावना	आचार्य श्री अमितगति जी
27.	अमितगति श्रावकाचार	आचार्य श्री अमितगति जी
28.	आत्मानुशासन	आचार्य श्री गुणभद्र जी
29.	भावसंग्रह	आचार्य श्री देवसेन जी
30.	आराधनासार	आचार्य श्री देवसेन जी
31.	तत्त्वार्थसार	आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी
32.	समयसार आत्मख्याति	आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी
33.	ज्ञानार्णव	आचार्य श्री शुभचन्द्र जी
34.	द्रव्यसंग्रह	आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी
35.	बृहद् द्रव्यसंग्रह	आचार्य श्री ब्रह्मदत्त जी
36.	परमात्मप्रकाश टीका	आचार्य श्री ब्रह्मदत्त जी
37.	प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति	आचार्य श्री जयसेन जी
38.	ध्यानस्तव	आचार्य श्री भास्करनन्दि जी
39.	सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति	आचार्य श्री भास्करनन्दि जी
40.	वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य श्री वसुनन्दि जी
41.	गुणभूषण श्रावकाचार	आचार्य श्री गुणभूषण जी
42.	पूज्यपाद श्रावकाचार	आचार्य श्री पूज्यपाद जी
43.	रत्नमाला	आचार्य श्री शिवकोटि जी
44.	नियमसार टीका	आचार्य श्री पद्मप्रभ जी
45.	योगप्रदीप	मुनि श्री हर्षकीर्ति जी
46.	ज्ञानसार	मुनि श्री पद्मसिंह जी
47.	ए बे-लगाम के घोडे! सावधान	मुनि सुविधिसागर जी
48.	नियमसार टीका	आर्यिका श्री ज्ञानमती जी
49.	अनगार धर्मामृत	पण्डित श्री आशाधर जी
50.	इष्टोपदेश टीका	पण्डित श्री आशाधर जी
51.	छहढ़ाला	पण्डित श्री दौलतराम जी
52.	लघु सिद्धान्त कौमुदी	पाणिनी जी
53.	ए बे-लगाम के घोडे! सावधान	मुनि सुविधिसागर जी

श्लोकानुक्रमणिका

क्र.	श्लोक	श्लोकांक	पृष्टांक
	- अ -		
१.	अलब्धस्त नहिणो देहो	३६	९८
२.	अनन्त ज्ञानमेवाहं	१९	७२
३.	अन्यच्छरीरमन्योऽहं	३५	९५
४.	अभाव भावनं चैव	७	१८
५.	अरिषड्वर्गमाश्रित्य	४०	१०७
	- आ -		
६.	आर्त्तरौद्रं परित्यज्य	४१	१०९
७.	आत्मकर्म परित्यज्य	३३	८८
८.	आत्मा सत्वं परिज्ञाय	१६	५४
९.	आत्मा हि ज्ञानमित्युक्तं	८	२०
	- उ -		
१०.	उर्ध्वश्वास विनिर्मुक्त	३८	[illegible]
	- ए -		
११.	एकः करोति कर्माणि	३७	१०१
	- क -		
१२.	कषायं नो कषायं च	१५	४१
१३.	कायप्रमाणमात्मानं	२	४
	- ग -		
१४.	गच्छन् वा यदि वा सुप्तः	१२	३१
१५.	गर्भिणी च यथा नारी	२९	७९
१६.	गृहस्थो यदि वा लिङ्गी	९	२३
	- च -		
१७.	चिन्तया नश्यते ज्ञानं	३४	९१
	- त -		
१८.	तस्मात्कर्म परित्यज्य	१७	४७
	- द -		
१९.	देहाज्जीवं पृथक्कृत्वा	३२	८६
२०.	देहं चैत्यालयं प्राहु	२२	६१

	- ध -		
२१.	ध्यानं स्थिर मनश्चेव	५	१२
	- न -		
२२.	न जापेन न होमेन	३०	८२
२३.	नास्ति ध्यान समो बन्धुः	२५	६५
२४.	नेत्रद्वंद्वे श्रवण युगले	४३	११६
	- प -		
२५.	पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं	१४	३६
२६.	पक्षपात विनिर्मुक्तं	२८	७७
२७.	पदार्था ह्यन्यथा लोके	१०	२६
२८.	परात्मा द्विविधः प्रोक्त	२६	७२
२९.	पापकर्म परित्यज्य	१६	४५
३०.	प्रपञ्चरहितं शास्त्रं	२४	६८
३१.	प्रभातं योगिनो नित्यं	३१	८४
	- भ -		
३२.	भावक्षये समुत्पन्ने	४	१०
	- म -		
३३.	मतिश्रुतावधिश्चेति	२१	५
	- य -		
३४.	यथा च काञ्चनं शुद्ध	२३	६३
३५.	यावन्निवर्तते चिन्ता	३९	१०५
३६.	यो नरः शुध्दात्मानं	१३	३४
	- व -		
३७.	वर्णातीतं कलातीतं	११	२९
३८.	वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं	४२	११२
	- श -		
३९.	शुद्धात्मानं परं ज्ञात्वा	१	२
४०.	शुभाशुभात्मकं कर्म	३	५
४१.	श्रुयते ध्यानयोगेन	२७	७४
	- स -		
४२.	संकल्प एव जन्तूनां	६	१८
४३.	सम्यग्दर्शनज्ञान	२०	५५
	- ज्ञ -		
४४.	ज्ञानांकुशमिदं चित्त	४४	१२०